उर्वशी : उपलब्धि और सीमा

[दिनकर की 'उर्वशी' का एकदम मौलिक विश्लेषण]

प्रो० विजेन्द्र नारायण सिंह
भागलपुर विश्वविद्यालय

ज्ञानालोक, पटना-४

प्रकाशक
ज्ञानालोक
अशोक राजपथ पटना ४

प्रथम आवृत्ति १९६५

मूल्य : तीन रुपये पचास पैसे

मुद्रक
केसरवानी प्रेस
इलाहाबाद

डा० धर्मवीर भारती को

जिनकी अद्भुत प्रतिभा से

मैं अभिभूत रहा हूँ।

भूमिका

अब इस पुस्तक के सम्बन्ध में क्या लिखूँ ? पिछले तीन वर्षों से निरन्तर ही पढ़ता रहा हूँ । ममता सुकुमार चीज होती है । उसकी क्या कोई व्याख्या की जा सकती है ? 'उर्वशी' मेरी इस ममता का मुख्य केन्द्र रही है । उसे कितनी बार पढ़ गया हूँ याद नहीं है ।

किन्तु आलोचक को तो ममता से मुक्त होना ही पड़ता है । तुलना और विश्लेषण ये ही दो औजार मेरे सहायक रहे हैं । कोई भी साहित्यिक कृति निरपेक्ष चीज नहीं होती है । देखना यह होता है कि अपने इतिहास की परम्परा में उसका क्या स्थान हो सकता है ? यहीं पर तुलना की आवश्यकता पड़ती है । पुनः विश्लेषण तो आलोचक की प्रतिभा का ही पर्याय है । कृति की सामर्थ्य का उद्घाटन इसी से संभव हो पाता है । मैंने इस पुस्तक में इन्हीं दो प्रणालियों का सहारा लिया है ।

श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी ने उर्वशी को भाव का, पुरुरवा को क्रिया का और औशीनरी को प्रतिक्रिया का प्रतीक माना है । मैंने पुस्तक के एक अध्याय का शीर्षक ही दिया है 'भाव क्रिया और प्रतिक्रिया' शीर्षक के अतिरिक्त इस अध्याय का समग्र विश्लेषण मेरा अपना है मौलिक है और उक्त द्विवेदी जी से कुछ लेना देना नहीं है । फिर भी मैं इसके लिए आदरणीय द्विवेदी जी का ऋणी हूँ ।

पुस्तक-लेखन के क्रम में मुझे बराबर भागलपुर विश्वविद्यालय के अंग्रेजी विभाग के यशस्वी प्राध्यापक श्री चन्द्रेश्वर प्रसाद सिन्हा का सहयोग मिलता रहा है । उनका वैदुष्य विस्मयजनक और अगाध है । साहित्य की मर्म पहचानने में उन्हें कोई भूल नहीं होती है । कविताओं में तो उनकी पैठ बहुत गहरी है । मैं उनका कृतज्ञ हूँ । अग्रज तुल्य प्रो० श्री रामकृष्ण सहाय का स्नेह मुझ पर सदा बना रहा है । वे तो मेरे 'गाइड' ही रहे हैं । मित्रवर प्रो० नगेन्द्र प्रसाद ठाकुर और प्रसिद्ध व्यंग्य लेखक श्री विनोद चन्द्र म्य प्रवासी का भी मैं कम कृतज्ञ नहीं हूँ । यशस्वी कवि श्री रामसेवक चतुर्वेदी

शास्त्री जी के स्नेह की क्या चर्चा करूँ। 'समुझि मनहि मन रहिए'। मेरे प्रिय छात्र उत्तम कुमार झा एवम् श्री कलानन्द सिंह ने भी पाण्डुलिपि तैयार करने में मेरी बड़ी सहायता की है। मैं इन सब महानुभावों का कृतज्ञ हूँ और उन्हें हृदय से धन्यवाद देता हूँ।

किन्तु ज्ञानालोक के व्यवस्थापक श्री रामारमण गोस्वामी जी को धन्यवाद न दूँ, तो यह एक अपराध होगा। उनके सहयोग और उत्साह के बिना तो पुस्तक पाण्डुलिपि ही बनी रहती। मैं उनका हृदय से आभारी हूँ।

बस अब कुछ नहीं।

शकुन्तला भवन
मन्दरोजा
भागलपुर-२

विजेन्द्र नारायण सिंह
५-१-६२

विषय-सूची



प्रयुक्त कतिपय पुस्तकों के संक्षिप्त नाम

१	सं० चा० अ०	संस्कृति के चार अध्याय
2	A propos	A propos to the Lady Chatterley's Lover and other essays.

सहायक पुस्तकों की सूची

१ रेणुका — दिनकर
२ हुंकार
३ रसवन्ती
४ द्वन्द्वगीत
५ कुरुक्षेत्र
६ नील कुसुम
७ नये सुभाषित
८ उर्वशी
९ धर्म नैतिकता और विज्ञान
१० वेणुवन
११ अर्धनारीश्वर
१२ संस्कृति के चार अध्याय
१३ कामायनी — जयशंकर प्रसाद
१४ सात गीत वर्ष — धर्मवीर भारती
१५ अन्धा युग — "
१६ दिग्भ्रमित राष्ट्र कवि — प्रो० कामेश्वर शर्मा
१७ दिनकर सृष्टि और दृष्टि — नारायण प्रकाशन गाजियाबाद
१८ दिनकर की उर्वशी — डा० रमाशंकर तिवारी
१९ रवीन्द्र कविता कानन — निराला
२० तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि — डा० गोपीनाथ कविराज
२१ The Horizon of Marriage — Radha Kamal Mukherjee, Asia Publishing House
२२ A propos to the Lady Chatterly's Lover and other Essays. — D. H. Lawrence, Penguin Series
२३ Lady Chatterly's Lover — D H Lawrence
२४ Selected Letters — Penguin Series.
२५ Marriage and Morals — Allen and Unwin.
२६ Selected Prose — T S Eliot

भावधारा का विकास-क्रम

हिन्दी के कई आलोचकों ने 'उर्वशी' के प्रकाशन को एक आकस्मिक घटना मान लिया है।[1] शायद ही किसी छायावादोत्तर कवि को दिनकर से अधिक ख्याति मिली हो साथ ही इतना गलत मूल्यांकन भी किया गया हो। यही भूल आलोचकों ने 'रसवन्ती' के प्रकाशन के बाद की थी।[2] दिनकर केवल क्रान्ति के कवि कभी नहीं रहे। उनकी सामाजिक चेतना यथार्थवाद का पर्याय कभी नहीं रही। दिनकर यशस्वी रोमांटिक कवि हैं। रोमांटिक कवि दो धरातल पर काव्य रचता है—एक धरातल है सामाजिक चेतना का और दूसरा है सौन्दर्य-प्रेम और जिज्ञासा का। वह उत्कर्ष और घाटी बैस कवि इस कथन के प्रमाण हैं। किन्तु हिन्दी के कुछ आलोचकों ने दिनकर की फुनगी पर टंगी हुई शबनम की बूँदों को कृत्रिम और आयातित मान लिया।

---

१ 'हुंकार' 'कुरुक्षेत्र' और 'रश्मिरथी' के कवि ने विषय तो अपने स्वभाव से बहुत भिन्न चुना किन्तु, शृङ्गार के बहाने उसने कविता ऐसी रच डाली जिसकी तुलना और किसी काव्य से नहीं की जा सकती है।'

—मन्मथनाथ गुप्त नवनीत सितम्बर १९६१।

२ (क) "'हुंकार' के बाद 'रसवन्ती' का प्रकाशन ठीक उसी प्रकार है जिस प्रकार किसी आतंकवादी का काले पानी से लौटकर आने के बाद घर बसाना' या भी कहिये कि 'हाहाकार' के दिनकर ने 'रसवन्ती' में आकर अपने कानों में कसकर रुई ठूंस ली है।'

—प्रो॰ कामेश्वर शर्मा दिग्भ्रमित राष्ट्रकवि पृष्ठ ४८।

(ख) 'एक थके हुए सिपाही की तरह दिनकर कंधे से बन्दूक उतारकर कुंए से पानी पीने लगे हैं, दिनकर का अपराध इतना ही है कि उन्होंने 'रसवन्ती' में अपनी बन्दूक कन्धे से उतार दी है।

—वही

सच तो यह है कि दिनकर के साहित्यिक व्यक्तित्व का निर्माण रति और उत्साह के केन्द्र-बिन्दु पर हुआ है। रति और उत्साह के दो उपकूलों से होकर उनकी कविता-धारा प्रवाहित होती रही है। ये ही दो स्थायी भाव कभी समानान्तर चलते हैं, कभी एक दूसरे को मंदित करते चलते हैं कभी एक क्षीण पड़ जाता है और दूसरा प्रबल। किन्तु, ये दोनों तमाम रूप से वर्तमान हैं। 'रेणुका' में रति और उत्साह का समवाय है। बेनीपुरी ने ठीक ही लिखा है कि 'अंगारा जिस पर इन्द्रधनु खेल रहा हो यह रेणुका के दिनकर का परिचय है।' 'हुंकार' में उत्साह प्रबल पड़ जाता है, रति सुप्त हो जाती है। 'द्वन्द्वगीत' में रति और उत्साह का गुम्फन है एक ओर घर का आकर्षण है दूसरी ओर क्रांति की पदचाप भी सुनाई पड़ती है। 'रसवन्ती' में कवि घर लौट आता है। वह नारी के अधरों का रस वासना-तट पर अधीर होकर पीता है। 'सामधेनी' में आकर वह पुनः रतिभाव शीतल रक्त को उष्ण करने के लिए विद्रोह की समिधाएँ जलाता है। इसी पृष्ठभूमि पर 'कुरुक्षेत्र' की रचना होती है। 'रश्मिरथी' में भी उत्साह का प्राचुर्य है किन्तु, ताजगी का अभाव। 'रेणुका' के दिनकर से दो धाराएँ फूटीं—'हुंकार' और 'रसवन्ती'। 'हुंकार' का उत्साह 'कुरुक्षेत्र' में चरम-बिन्दु पर पहुँचता है, 'रसवन्ती' की रति 'उर्वशी' में पूर्णता पाती है। अतः 'कुरुक्षेत्र' और 'उर्वशी' परस्पर विरोधी नहीं बल्कि एक ही नदी के दो किनारे हैं।

दिनकर का रोमांस कभी भी असमय जोर नहीं मारने लगा था।[१] 'हुंकार' और 'रसवन्ती' की कविताएँ समानान्तर ढङ्ग से लिखी गई थीं। 'रसवन्ती' शीर्षक कविता १६३५ में, नारी १६३६ में तथा अन्य कविताएँ भी इसी के आसपास लिखी गई थीं। हुंकार की रचनाओं का समय भी यही है। यह एक अद्भुत बात है कि किसी रचना के प्रकाशन-काल से तत्कालीन राजनीतिक स्थिति का मेल बैठाया जाता है।

---

१ दिनकर के दुर्भाग्य से दिनकर का यह रोमान्स ठीक ऐसे समय जोर मारने लग गया है जबकि भारत का राजनीतिक वातावरण अत्यन्त विपाक्त बन गया था, जबकि उनकी विपथगा ने ही अपने हाथ में तलवार उठायी थी।

—प्रो० कामेश्वर शर्मा दिग्भ्रमित राष्ट्रकवि पृ० ४६।

रेणुका

प्रश्न तो यह है कि 'रेणुका' और 'रसवन्ती' के कवि द्वारा यदि 'उर्वशी' की रचना नहीं होती तो यह आश्चर्य की बात होती है। 'रेणुका' में यदि एक ओर 'हिमालय' है तो दूसरी ओर 'प्रेम का सौदा' भी। यदि एक ओर 'बापू' पर कविता है तो दूसरी ओर 'कोयल' पर भी। 'रेणुका' में ही दिनकर की रति की प्रथम किरणों की झिलमिलाहट है। सौन्दर्य-प्रेम उनमें प्रारम्भ से ही है। मिथिला में शरद कविता यौवन-प्रेम से सुवासित है।

(दिनकर) सर में अब दिये आए
सुन्दरियाँ यह कर रही स्नान।
आग्रीव वारि के बीच खड़ी
पा रही मधुर प्रत्येक परी।
× × ×
डुबकी रमणियाँ लगाती हैं,
झट ऊपर ही फहराती हैं,
जलमग्न कमल को लोभ-ग्रस्त
मधुपावलियाँ मँडराती हैं।[1]

'उर्वशी' के विकसित चिन्तन के अनेक बीज 'रेणुका' में ही मिल जाते हैं। यथा—

जगती में मादकता देखी लेकिन अक्षय तत्व नहीं
आकर्षण में तृप्ति और सुन्दरता में अमरत्व नहीं।
यहाँ प्रेम में मिली विकलता जीवन में परितोष नहीं
बाल-युवतियों के आलिंगन में पाया संतोष नहीं।[2]
(परदेशी)

'उर्वशी' में भी रम्भा कहती है—

यहाँ प्रेम जहाँ रावसी भूल से क्षण-क्षण अकुलाता है।
प्रथम पास में ही यौवन की ज्योति निगम जाता है।

---

1. रेणुका ५८–९।
2. रेणुका ८७।

कर देता है धूम रूप को दाहक आलिंगन से,
छवि को प्रभाहीन कर देता ताप-तप्त चुम्बन से
पतझड़ का उपमान बना देता वाटिका हरी को
और चूमता रहता फिर सुन्दरता की ठठरी को।[1]

'परदेशी' से उपरिउद्धृत पंक्तियों में जो कवि ने कहा कि 'वाम-युवतियों के आलिङ्गन में पाया संतोष नहीं' उसी का सीधा विकास 'उर्वशी' में हुआ है। पुरुरवा कहता है —

किन्तु रस के पात्र पर ज्यों ही लगाता हूँ अधर को
घूँट या दो घूँट पीते ही न जाने
किस अतल से नाद यह आता
अभी तक भी न समझा।
दृष्टि का जो पेय है वह रक्त का भोजन नहीं है।
रूप की आराधना का मार्ग आलिङ्गन नहीं है।[2]

संन्यास का यह स्वर अथवा भोग की सीमा का अतिक्रमण कर आगे बढ़ने की यह लालसा 'परदेशी' कविता में ही मुखर है—

'मैं न रुकूँगा इस भूतल पर जीवन-यौवन प्रेम गँवाकर,
वायु, उड़ाकर ले चल मुझको जहाँ कहीं इस जग से बाहर।[3]

देह की सीमा के अतिक्रमण की यही भावना 'उर्वशी' में पुरुरवा में प्रकट होती है।

ये किरणें, ये फूल किन्तु, अन्तिम सोपान नहीं हैं
उठना होगा बहुत दूर ऊपर इनके तारों पर
स्यात्, ऊर्ध्व उस अम्बर तक जिसकी ऊँचाई पर से
यह मृत्तिका-विहार बिम्ब-किरणों का हीन लगेगा।[4]

किन्तु मौलिकता का विज्ञापन करने वाले एक अत्यन्त ही 'पुराण पंथी' आलोचक ने 'रेणुका' की उपरिउद्धृत पंक्तियों को पलायनवादी कहकर मौलिकता का फतवा दिया था।

---

१ रसवन्ती २७।
२ वही ४१।
३ रेणुका ८९।
४ उर्वशी ६१।

रसवन्ती

'रसवन्ती' उर्वशी की पूर्व पीठिका है। 'उर्वशी' के सभी प्रमुख भाव तथा विचार बीज रूप में 'रसवन्ती' में मिलते हैं। दिनकर मातृत्व को नारीत्व का चरम उत्कर्ष मानते हैं। दिनकर इसीलिए आधुनिकता की भर्त्सना करते हैं जो केवल देह की भूख मिटाना चाहती है। 'रसवन्ती' में आधुनिका के भीतर बसनेवाली एक और नारी को देखते हैं जो कि 'ज्वालामुखी' है।

> कुरूप अवगुण्ठन का भूखा, सो वह जिसने वाली
> सात पत्थरों के नीचे ।है दबी अभी तक तुम में।
> तुम जितना विभ्रम करती वह आकुल होती उतनी
> जितना व्यर्थ बनाव क्षीण उतनी होती जाती है।
> वृथा रभस के कोलाहल से प्राण विकल हैं उसके
> भारहीन कुन्तल से उसका दम घुटता जाता है।
> कौतुक हास-विलास रभस की भाव-सजीव प्रतिमाओ !
> देखो निज में झांक कभी उस ज्वाल-मुखी नारी को।[1]

—नारी

आज की आधुनिकाएँ चमड़ी की ताज़गी और कोमलता बरकरार रखने के लिए कृत्रिम बंध्यत्व को स्वीकारती हैं। दिनकर मानते हैं कि यह नारी का वास्तविक रूप नहीं है—

> 'काम ! समझती व्यर्थ निराशातुर कृत्रिम बंध्याएँ,
> पुत्र-कामना इच्छा है अपने को ही पाने की।'[2]

देह का सुख ही सब कुछ नहीं प्रेम में तो तन का अतिक्रमण भी हो जाता है। उर्वशी' की भूमिका में नर-नारी के द्विविध व्यक्तित्व का बड़ा ही स्वच्छ विश्लेषण करते हुए उन्होंने लिखा है —

'नारी नर को छूकर तृप्त नहीं होती न नर नारी के आलिङ्गन में संतोष मानता है। कोई शक्ति है जो नारी को नर और नर को नारी से अलग नहीं

---

१ रसवन्ती ४७।
२ वही ५१।

रहने देती और जब वे मिल जाते हैं, तब भी 'उनके भीतर किसी ऐसी तृषा का संचार करती है जिसकी तृप्ति शरीर के धरातल पर अनुपलब्ध है।

'नारी के भीतर एक और नारी है जो अगोचर और इन्द्रियातीत है। इस नारी का सन्धान पुरुष तब पाता है जब शरीर की धारा उछालते उछालते उसे मन के समुद्र में फेंक देती है, जब दैहिक-चेतना से परे, वह प्रेम की दुर्गम समाधि में पहुँचकर निस्पंद हो जाता है और पुरुष के भीतर भी एक और पुरुष है, जो शरीर के धरातल पर नहीं रहता जिसके मिलन की आकुलता में नारी अंग-संज्ञा के पार पहुँचना चाहती है। सच तो यह है कि नारी के भीतर जो एक और नारी है उसी के प्राण रसवन्ती में 'भुपा रमस के कोलाहल' से विकल हो गये थे और वह म्लानमुखी' थी। 'उर्वशी' की यह द्विविध व्यक्तित्व वाली नारी का जन्म 'रसवन्ती' में ही हो चुका था 'उर्वशी' में आकर वह युवती बन गई है।

उस नारी की जो मात्र शरीर के धरातल पर उपलब्ध है भर्त्सना करते हुए दिनकर वस्तुतः मात्र दैहिक आसक्ति की ही भर्त्सना करते हैं। उर्वशी में यही बीज विशाल वटवृक्ष बन गया है जिसे गलत या सही आलोचकों ने और स्वयं कवि ने भी कामाध्यात्म की कविता कहा है। उर्वशी कहती है—

पर क्या बोलूँ ? क्या कहूँ ?
भ्रांति यह देह भाव ![1]

पुरूरवा भुपा रमस के तिमिर-व्यूह से निकलने को बेचैन है। वह कहता है—

'मैं मनुष्य कामना-वायु मेरे भीतर बहती है
कभी मन्दगति से प्राणों में सिहरन-पुलक जगाकर
कभी डालियों को मरोड़ झंझा की दारुण गति से,
मन में [illegible] जगाकर तिमिराच्छन्न हृदय को।
किन्तु, [illegible] मानता है तम के गा[illegible] रो ?
मैं दीपक फिर [illegible]।'[2]

अतः यह स्पष्ट है कि 'रसवन्ती' वाला दृष्टिकोण ही उर्वशी में स्वस्थ और पुष्ट होकर उभरा है।

रसवन्ती में ही दिनकर ने नारीत्व का चरम उत्कर्ष मातृत्व में माना है।

'अंचल के सुकुमार फूल को वह यों चख रही है,
फूट रही हो धार दूध की ही ज्यों भरे नयन से।'[1]

अथवा

शरमाती बैठी थी उत्सुक वधू प्रसूति-सदन में
निकली है लेकर पुनीत गंभीर हृदय माता का।
जब से उज्ज्वल प्रेम उमड़ अंचल में फूट पड़ा है,
एक सरस संतोष झलकता है उसके आनन पर।'[2]

'उर्वशी' में नारी की चरम उपलब्धि पर प्रकाश डालते हुए पुनः यही बात दिनकर ने कही है—

'गलती है हिमशिला सत्य है गठन देह की खोकर
पर हो जाती वह असीम कितनी पयस्विनी होकर।'[3]

दिनकर ने 'रसवन्ती' में युवती नारी जब माँ बनती है, तब उसके आनन पर झलकने वाले सरस संतोष' की चर्चा की है। वासना की भट्टी में जलने वाली नारी माता बनने पर शमित-वह्नि हो जाती है। इस शमित वह्नि नारी का मातृसंतोष संक्रामक होता है। 'रसवन्ती' में उस सरस संतोष' का ही विकास उर्वशी में इस संक्रामक प्रभाव उत्पन्न करने वाली शमित वह्नि नारी के रूप में हुआ है।

सुना जननि को देख शांति मन में कैसी जगती है।
रूपमती भी सखी! मुझे तो वही प्रिया लगती है,
जो गोदी में पड़े क्षीर-मुख शिशु को सुला रही हो।
अथवा खड़ी प्रसन्न पुत्र का पलना झुला रही हो।'[4]

---

१ रसवन्ती ५०।
२ वही ५०।
३ उर्वशी १६।
४ वही १६।

रहते वैसी और जब वे मिल जाते हैं, तब भी 'उनके भीतर किसी ऐसी तृषा का संचार करती है जिसकी तृप्ति शरीर के धरातल पर अनुपलब्ध है।

'नारी के भीतर एक और नारी है जो अगोचर और इन्द्रियातीत है। इस नारी का संधान पुरुष तब पाता है जब शरीर की धारा उछालते उछालते उसे मन के समुद्र में फेंक देती है, जब दैहिक-चेतना से परे वह प्रेम की दुर्गम समाधि में पहुँचकर निस्पंद हो जाता है और पुरुष के भीतर भी एक और पुरुष है, जो शरीर के धरातल पर नहीं रहता जिससे मिलन की आकुलता में नारी अंग-सत्ता के पार पहुँचना चाहती है। सच तो यह है कि नारी के भीतर जो एक और नारी है उसी के प्राण रसवन्ती में 'मृषा तमस के कोलाहल' से विकल हो गये थे और वह 'ज्वालामुखी' थी। उर्वशी' की यह द्विविध व्यक्तित्व वाली नारी का जन्म 'रसवन्ती' में ही हो चुका था 'उर्वशी' में आकर वह युवती बन गई है।

उस नारी की, जो मात्र शरीर के धरातल पर उपलब्ध है भर्त्सना करते हुए दिनकर वस्तुतः मात्र दैहिक आसक्ति की ही भर्त्सना करते हैं। उर्वशी में यही बीज विकास करके वृक्ष बन गया है जिसे गलत या सही आलोचकों ने और स्वयं कवि ने भी कामाध्यात्म की कविता कहा है। उर्वशी कहती है—

'पर क्या बोलूँ ? क्या कहूँ ?
भ्रांति यह देह भाव !'[1]

पुरुरवा मृषा-तमस के तिमिर-व्यूह से निकलने को बेचैन है। वह कहता है—

मैं मनुष्य कामना-वायु मेरे भीतर बहती है
कभी मन्दगति से प्राणों में सिहरन-पुलक जगाकर
कभी डालियों को मरोड़ झंझा की दारुण गति से,
मन का दीपक बुझा बनाकर तिमिराच्छन्न हृदय को।
किन्तु, पुरुष क्या कभी मानता है तम के शासन को ?
फिर होता संघर्ष तिमिर में दीपक फिर जलते हैं।'[2]

---

१ उर्वशी ६४।
२ वही ४१।

अत: यह स्पष्ट है कि 'रसवन्ती' वाला दृष्टिकोण ही उर्वशी में स्वस्थ और पुष्ट होकर उभरा है।

रसवन्ती में ही दिनकर ने नारीत्व का चरम उत्कर्ष मातृत्व में माना है।

'अंचल के सुकुमार फूल को यह यों देख रही है,
फूट रही हो धार दूध की ही ज्यों भरे नयन से।'[1]

अथवा

शरमाती बैठी थी उत्सुक वधू प्रसूति-सदन में
निकली है लेकर पुनीत गंभीर हृदय माता का।
जब से उज्ज्वल प्रेम उमड़ आँचल में फूट पड़ा है,
एक सरल संतोष झलकता है उसके आनन पर।'[2]

'उर्वशी' में नारी की चरम उपलब्धि पर प्रकाश डालते हुए पुनः यही बात दिनकर ने कही है—

'थमती है हिमशिखा सदृश है कठिन देह की खोकर
पर हो जाती वह असीम कितनी पयस्विनी होकर।'[3]

दिनकर ने 'रसवन्ती' में युवती नारी जब माँ बनती है तब उसके आनन पर झलकने वाले 'सरल संताप' की चर्चा की है। वासना की मूर्ति में पलने वाली नारी माता बनने पर अमित-शक्ति हो जाती है। इस अमित शक्ति नारी का आत्मतोष संक्रामक होता है। 'रसवन्ती' में उस 'सरल संतोष' का ही विकास उर्वशी में इस संक्रामक प्रभाव उत्पन्न करने वाली अमित-शक्ति नारी के रूप में हुआ है।

'भुजा अवनि को देख शान्ति मन में कैसी जगती है।
रूपमती भी सखी! मुझको नहीं किया जगती है,
जो गोदी में पड़े क्षीर-मुख शिशु को सुना रही हो।
अथवा वहीं प्रसन्न पुत्र का पलना झुला रही हो।'[4]

---

१ रसवन्ती ५०।
२ वही ५०।
३ उर्वशी १६।
४ वही १६।

नारी के प्रति दिनकर का दृष्टिकोण प्रारम्भ से ही रूमानी रहा है। रूमानी दृष्टिकोण यह मानता है कि नारी क्रिया से अधिक प्रेरणा है। वह पुरुष में उत्साह भरती है। जगत के संघर्ष में उसका योग प्रत्यक्ष नहीं है। नारी चाँदनी है, कमल की नाल है, शबनम की नन्हीं सी बूँद है। 'रसवन्ती' में कवि ने लिखा था—

'नारि ! तुम तो सुधा की धार
नारि ! तुम चाँदनी सुकुमार
नारि ! तुम तो कमल की नाल
मंजरी के पास वाली नर्म कोंपल लाल।'[१]

नारी पुरुष को प्रेरणा देती है उसके पौरुष को प्रदीप्त करती है—

'कमियों ने देखा जब तुम्हें टूटने लगे शंभु के चाप।
फेंकने लगा अस्त्र गाण्डीव पुरुष के छिनने लगे प्रताप।
× × ×
एक इंगित पर दौड़े शूर कनक-मृग पर होकर हत ज्ञान।
हुई ऋषियों के तप का मोल तुम्हारी एक मधुर मुस्कान।'[२]

'उर्वशी' के पंचम अंक में नारी पुनः इसी रूप में चित्रित हुई है—

इतिहासों की सकल दृष्टि केन्द्रित बस एक क्रिया पर,
किन्तु, नारियाँ क्रिया नहीं प्रेरणा और करुणा हैं
उद्गमस्थली अदृश्य जहाँ से सभी कर्म उठते हैं,
पर, तब भी हम छिपे इतिहासों की धारा से।
कौन नहीं जानता, पुरुष जब थकता कभी समर में
किस मुख का कर ध्यान याद कर किसके स्निग्ध दृगों को
शांति खोज वह पुनः नये पुलकों से भर जाता है ?[३]

दिनकर मानते हैं कि नारी एक मादक कल्पना है। यथार्थ जगत की शरीर-सुन्दरी तो उस कल्पना-किशोरी की एक झलक भर दिखाती है। इस

---

१ रसवन्ती ९४।
२ वही २८।
३ उर्वशी १११।

सुन्दरी के रूप के अमोघ प्रभाव का वर्णन 'रसवन्ती' में बेजोड़ है। दिनकर कहते हैं।

'दृष्टि तुमने फेरी जिस ओर
गई खिल कमल-पंक्ति अम्लान
हिल मानव के कर से त्रस्त
शिथिल गिर गए धनुष औ बाण।
हो गया मदिर दृगों को देख
सिंह विजयी बर्बर लाचार।
रूप के एक तन्तु में नारि
गया बँध मत्त गयन्द कुमार।'[1]

'उर्वशी' में इस कल्पना-किशोरी के अमोघ प्रभाव का चित्रण अनेक स्थलों पर है।

(१) 'विषधर के फण पर अमृत वर्ति
उद्धत अदम्य बर्बर बल पर रूपांकुश
क्षीण मृणाल तार।'[2]

(२) 'मेरे सम्मुख नत हो रहते गजराज मत्त
केसरी शरभ शार्दूल भूल निज हिंस्र भाव
गृह-मृग समान-निर्विष अहिंस्र बनकर जीते।
मेरी स्मिति को देख चकित विस्मित विभोर
शूरमा निमिष खोले अवाक रह जाते हैं
श्लथ हो जाता स्वयमेव शिंजिनी का कसाव
संस्रस्त करों से धनुष-बाण गिर जाते हैं।'[3]

(३) 'पर न जानें बात क्या है?
इन्द्र का आयुध पुरुष जो झेल सकता है
सिंह से बाँहें मिलाकर खेल सकता है
फूल के आगे वही असहाय बन जाता
शक्ति के रहते हुए निरुपाय बन जाता

१ रसवन्ती २७।
२ उर्वशी ९९।
३ वही ९९।

बिद्ध हो जाता सहज बंकिम नयन के बाण से
जीत लेती रूपसी नारी उसे मुस्कान से।[१]

'उर्वशी' का 'रसवन्ती' से यह साम्य कहीं-कहीं तो अत्यन्त ही स्पष्ट है—

हृदय निज फरहादों ने चीर
बहा दी पय की उज्ज्वल धार।
आरती करने को सुकुमारि
स्वर्ग को नर ने लिया उतार।
एक इंगित पर दौड़े सूर
कनक-मृग पर होकर हत ज्ञान
हुई ऋषियों के तप का मोल
तुम्हारी एक मधुर मुस्कान।[२]

उर्वशी के द्वितीय अंक में मदनिका कहती है—

तपानिष्ठ नर का संचित तप और ज्ञान-ज्ञानी का
मानशील का मान गर्व गर्वीले अभिमानी का
सब चढ़ जाते भेंट सहज ही प्रमदा के चरणों पर
कुछ भी बचा नहीं पाता नारी से उद्वेलित नर।[३]

नर-नारी के प्रेम के सम्बन्ध में दिनकर का चरम उद्देश्य देह की सीमा का अतिक्रमण ही है। लेकिन दैहिक सुख को दिनकर ने कहीं भी त्याज्य नहीं माना है। दिनकर के काव्य में ऐन्द्रिक लालसा के शत-शत चित्र हैं। त्वचा के स्पर्श से उत्पन्न सुख का मोहक वर्णन है। नारी को देखकर नर के हृदय में एक फुरफुरी-सी जगती है। नारी के सम्पर्क से ही पुरुष के उपचेतन में मंडराने वाली भावनाएँ सतह पर उतरकर जगने लगती हैं। हरियाली को देखते ही अपने ऊसर का उदासीपन काटने दौड़ता है—

---

१. उर्वशी ५१४।
२. रसवन्ती १८।
३. उर्वशी ३४।

'तुम नयी किरण-सी लगीं मुझे सहसा प्रभात का ज्ञान हुआ
जिस दिन देखा यह हरित गोद अपने ऊपर का भान हुआ।'[1]

दिनकर देह की भूख को नगण्य नहीं मानते। 'रसवन्ती' की 'मानवती' कविता में अपनी रूठी हुई प्रियतमा को मनाते हुए कवि कहता है—

'जीवन के दिन चार, अवधि उससे भी अल्प जवानी की।
उस पर भी कितनी छोटी तिथि होती प्रणय-कहानी की?
हम दोनों की प्रथम रात यह, मान करो मत मान प्रिये।
मिट न सकेगी कसक कभी यदि यों ही हुआ विहान प्रिये।'[2]

ध्वनि के मर्म को 'यों ही हुआ विहान प्रिये' की व्यंजना बतलाना अनावश्यक है। दिनकर नर और नारी के शारीरिक मिलन का 'उर्वशी' में भी पाप नहीं मानते हैं। उर्वशी कहती है—

'यह विद्युन्मय स्पर्श तिमिर है पाकर जिसे त्वचा की
नींद टूट जाती, रोमों में दीपक बल उठते हैं?
वह आलिंगन अन्धकार है, जिसमें बंध जाने पर
हम प्रकाश के महासिन्धु में उतराने लगते हैं?
और कहोगे तिमिर-शूल उस चुम्बन को भी जिससे
जड़ता की ग्रन्थियाँ निखिल तन-मन की खुल जाती हैं?'[3]

इस काम सुख के वर्णन में दिनकर 'उर्वशी' में चरम प्रकर्ष पर हैं—

'वक्षस्थल पर इसी भाँति मेरा कपोल रहने दो।
कसे रहो बस इसी भाँति उर-पीड़क आलिंगन में
और जलाते रहो अधर पुट को कठोर चुम्बन से
किन्तु आह! यों नहीं, तनिक तो शिथिल करो बाँहों को
निष्पेषित मत करो यद्यपि इस मधु निष्पेषण में भी
मर्मान्तक है शांति और आनन्द एक दारुण है।'[4]

१ रसवंती ५५।
२ रसवंती ४३।
३ उर्वशी ४७।
४ वही ६५।

उर्वशी' में दिनकर ने जिस चिरन्तन-प्रिया की कल्पना की है वह कल्पना भी 'रसवन्ती' में ही मिल जाती है। 'पुरुष-प्रिया' कविता में दिनकर ने लिखा है—

सुन्दर थी तुम जब पुरुष बना
सुन्दर अब थी जब जन्म गया
था रहा सकल भ्रम व्यथ नहीं
मिलता आगे कुछ ज्ञान नया।
जब-जब फिर आता पुरुष क्लान्त
तब तुम कहती रस मग्न 'प्रिय'।
मिलती न उसे फिर बात नयी
मुख से कहते वो बस 'प्रिया'।[1]

'उर्वशी में पुरुरवा इसी चिरन्तन-प्रिया को कह रहा है—

'जहाँ-जहाँ तुम खिलीं स्यात् मैं ही मलयानिल बनकर
तुम्हें घेरता आया हूँ आकुल अपनी बाहों से
जिसके भी आनन किया चुंबित तुमने अधरों को
लगता है मैं ही अवैध वह कुसुम रसिक युवक था।'[2]

स्वयं उर्वशी कहती है—

'मैं भूत भविष्यत्, वर्तमान की कृत्रिम बाधा से विमुक्त
मैं विश्व-प्रिया।'[3]

यह विश्व-प्रिया चिरन्तन नारी के मिथ्या है ही नया जो हर पुरुष के हृदय में निवास करती है।

द्वन्द्वगीत

द्वन्द्वगीत' का जन्म दार्शनिक धरातल पर ही प्रतिफलित हुआ है। यहीं से दिनकर ने जिस दार्शनिक कविता का प्रणयन प्रारम्भ किया था उसकी चरम परिणति सम्भवतः 'उर्वशी' में हुई है। चूँकि दिनकर रोमान्टिक कवि हैं

---

१ रसवन्ती ९०।
२ उर्वशी १०१।
३ वही १०३।

इसलिए संसार को व पूर्ण नहीं मानते हैं। एक अज्ञात और अनिर्वचनीय सत्ता के प्रति जिज्ञासा और कुतूहल का भाव उनमें प्रारम्भ से ही है। रोमांटिक कवि अपने आस-पास के सौन्दर्य को क्षणभंगुर मानता है, फिर भी उसे हेय नहीं समझता है। वह मानता है कि प्रत्येक सुन्दर वस्तु क्षण-भंगुर ही होती है, जहाँ चिरता है वहाँ सौन्दर्य नहीं है। 'द्वन्द्वगीत' में दिनकर लिखते हैं—

'मैं रोता था हाय विश्व
हिमकण की करुण कहानी है
सुन्दरता जलती मरघट में
मिटती यहाँ जवानी है
पर बोला कोई कि जरा
मोती की ओर निहारो तो
दो दिन ही हो सही किन्तु,
देखो कैसा यह पानी है।[१]

उर्वशी' में भी दिनकर मानते हैं कि जहाँ सौन्दर्य होता है, वहाँ नश्वरता भी निवास करती है। इसकी महिमा इस बात में है कि इसका स्वाद मर्मान्तिम होता है। मेनका कहती है—

'पर सोचो तो मरण मनुज कितना मधु-रस पीता है।
दो दिन ही हो पर कैसे वह धधक-धधक जीता है।
इन ज्वलन्त वेगों के आगे मलिन शान्ति सारी है
क्षण भर भी उन्माद तरंग पर चिरता बलिहारी है।[२]

स्वाद भले ही सौन्दर्य का अद्‌भुत होता है, पर उसकी नश्वरता से इन्कार कैसे किया जा सकता है! प्रत्येक वसंत में पतझड़ छिपा होता है। 'द्वन्द्वगीत' में (उससे भी पहले 'रेणुका' की परदेशी शीर्षक कविता में) कवि ने इस सत्य का साक्षात्कार किया है—

'मो देखा चाँदनी एक दिन
राख धर्मा पर छोड़ गई

---

१ द्वन्द्वगीत ६।
२ उर्वशी ११।

किसकी रोकता रहा नाव
कोयल वन से मुँह मोड़ गई
और ताल क्यारी क्यों सूनी
अरे बता किसने देखा
गलबाँही डाले सुन्दरता
काल संग किस ओर गई।[1]

रूप का जादू चित्र क्षणिक होता है। रूप की आवलियाँ जब सूख जाती हैं, तो केवल रेख शेष रहती है। मृगनयनी की चरम वास्तविकता का शून्य कोटर ही है, कुसुम के समान मुकुलित मांस में उभरी हुई अस्थि प्रच्छन्न है, उरोजों की उठान स्थायी नहीं है सब नष्ट होते हैं सब मुरझा जाते हैं—

जो कोटर हैं जो छिपा रही
मदमाती आँखें लाल सखी
अस्थि-तन्तु पर ही तो हैं
ये खिले कुसुम से गाल सखी।
और कुचों के कमल! झरेंगे
ये तो जीवन से पहले
कुछ थोड़ा सा मांस प्राण का
छिपा रहा कंकाल सखी।[2]

'उर्वशी' में भी रूप की बची हुई रेख का कवि को इतना ही मार्मिक बोध है। सुकन्या चतुर्थ अंक में चित्रलेखा से कहती है—

'पर न चिर स्थिर भौंहें के धनुष सिकुड़ जायेंगे
छूटेगी अरुणिमा कपोलों के प्रफुल्ल फूलों की।
और वक्ष पर जो तरंग यौवन की लहराती है,
पीछे सलवट छोड़ धरा में जाकर सो जाएगी।[3]

यानी रूप की प्रत्येक अवस्था की गति मग सृष्टि की स्वाभाविक प्रक्रिया है।

---

१ कुञ्जगीत, १०।
२ वही, २६।
३ उर्वशी १८।

देखकर नारी-देह को वासना का कौतुक नहीं समझते हैं। नारी रूप के प्रत्येक अवयव में वे प्रकृति के किसी अवयव का ही सौन्दर्य निहारते हैं। रूप-चित्रण में वे ऐसे विशेषणों का प्रयोग करते हैं, जो एकदम निष्कलुष हैं। विशेषणों की पवित्रता के प्रति वे सचेष्ट हैं। 'इन्दुगीत' में ही वे मिलते हैं—

ये नवनीत कपोल गुलाबी
की जिनमें लाली खोई
वह नलिनी-सी आँख जहाँ
काजल बन मधु अलिनि सोई
कोंपल से अधरों को रंगकर
कब वसन्त कर धन्य हुआ
किस शिल्पी ने तनु की यह
नवनिमा आँसुओं से धोई ?[1]

यहाँ कपोल नवनीत जैसा है। कितनी स्वच्छता है। नलिनी-सी आँख में काजल बन मधु अलिनी का सोना कितना निष्कलुष है। कोंपल से रंगा गया अधर पवित्रता का प्रकर्ष है। पुनः देह की समग्र नवलता आँसुओं से धुलकर निखरी है। इसी प्रकार 'उर्वशी' के रूप-चित्रण में भी कवि ऐसे उपमानों का चयन करता है जिनसे वासना की थोड़ी भी बू नहीं आती है—

"ये लोचन जो किसी अन्य जग के नभ के दर्पण हैं,
ये कपोल जिनकी द्युति में तैरती किरण ऊषा की
ये निष्कलुष से अधर, भावना जिनपर स्वयं मगन है,
रोती है कामना जहाँ पीड़ा पुकार करती है।
ये पुतलियाँ जिनमें उडुओं के मधुबिन्दु झरते हैं,
ये बाँहें विधु के प्रकाश की दो नवीन किरणों-सी ॥[2]

यह सम्पूर्ण रूप चित्रण निष्कलुष है। उर्वशी की आँख किसी अन्य जग के नभ का दर्पण है। अन्य जग ही कुतूहल को जन्म देने के लिए पर्याप्त है। फिर उसका नभ कैसा होगा ? नभ भी नहीं, यह उस नभ को प्रतिच्छायित करने वाला दर्पण है। यह सूक्ष्मता ही पवित्रता को जन्म देती है। कपोल पर

---

१ इन्दुगीत १२।
२ उर्वशी ११।

जिसको रोकता रहा भाव
कोमल मन से मुंह मोड़ गई
और भाव क्यारी क्यों सूनी
मेरे बता जिसमें देखा
गलबाँही डाले सुन्दरता
काल संग किस ओर गई।[1]

रूप का बाह्य चित्र क्षणिक होता है। रूप की स्रोतस्विनि जब सूख जाती है तो केवल रेत शेष रहती है। मृगनयनी की चरम वास्तविकता तो शून्य कोटर ही है कुसुम के समान मुकुलित मांस में उभरी हुई अस्थि प्रच्छन्न है उरोजों की उठान स्थायी नहीं है सब नष्ट होते हैं सब मुरझा जाते हैं—

'जो कोटर, जो छिपा रही
मदमाती आँखें आज सखी
अस्थि-तन्तु पर ही तो हैं
ये खिले कुसुम से गाल सखी।
और कुचों के कमल! मरेंगे
ये तो यौवन से पहले
कुछ थोड़ा सा मांस प्राण का
छिपा रहा कंकाल सखी।'[2]

'उर्वशी' में भी रूप की ढलती हुई बेला का कवि को इतना ही मार्मिक बोध है। सुकन्या चतुर्थ अंक में चित्रलेखा से कहती है—

'पर ये चित्र अचिर भौंहें के धनुष सिकुड़ जायेंगे
छूटेगी अरुणिमा कपोलों के मधुरस फूलों की।
और वक्ष पर जो तरंग यौवन की लहराती है,
बीच समतल छोड़ जरा में जाकर खो जाएगी।'[3]

मानो रूप की प्रत्येक कविता की गति भंग वृद्धि की स्वाभाविक प्रक्रिया है।

---

१ इन्द्रगीत, १०।
२ वही, २६।
३ उर्वशी १०८।

दिनकर नारी-देह को वासना का कीलन नहीं समझते हैं। नारी-रूप के प्रत्येक अवयव में वे प्रकृति के किसी अवयव का ही सौन्दर्य निहारते हैं। रूप चित्रण में वे उन विशेषणों का प्रयोग करते हैं जो एकदम निष्कलुष हैं। विशेषणों की पवित्रता के प्रति वे सचेष्ट हैं। 'द्वन्द्वगीत' में ही वे लिखते हैं—

ये नवनीत कपोल गुलाबों
की जिनमें लाली खोई
यह नलिनी-सी आँख जहाँ
काजल बन मधु यामिनि सोई
कोपल से अधरों को रंगकर
कब वसन्त कर अस्त हुआ
किस विरही ने तनु की यह
पवित्रता आँसुओं से धोई ?"[1]

यहाँ कपोल नवनीत जैसा है। कितनी स्वच्छता है। नलिनी-सी आँख में काजल बन मधु यामिनी का सोना कितना निष्कलुष है। कोपल से रंगा गया अधर पवित्रता का प्रकर्ष है। पुनः देह की समग्र पवित्रता आँसुओं से धुलकर निखरी है। इसी प्रकार 'उर्वशी' के रूप-चित्रण में भी कवि ऐसे उपमानों का चयन करता है, जिससे वासना की थोड़ी भी बू नहीं आती है—

ये लोचन जो किसी अन्य जग के नभ के दर्पण हैं,
ये कपोल जिनकी द्युति में तैरती किरण उषा की
ये किसलय से अधर, मादकता जिनपर स्वयं मदन है,
रोती है कामना जहाँ पीड़ा पुकार करती है।
ये भुजियाँ जिनमें ऋतुओं के मधुबिन्दु झरते हैं,
ये बाँहें विधु के प्रकाश की दो नवीन किरणों-सी ॥"[2]

यह सम्पूर्ण रूप चित्रण निष्कलुष है। उर्वशी की आँख किसी अन्य जग के नभ का दर्पण है। अन्य जग ही कुतूहल को जन्म देने के लिए पर्याप्त है। फिर उसका नभ कैसा होगा ? नभ भी नहीं यह उस नभ का प्रतिस्थापित करने वाला दर्पण है। यह सूक्ष्मता ही पवित्रता को जन्म देती है। कपाल पर

---

१ द्वन्द्वगीत ११।
२. उर्वशी ११।

उषा की द्युति का तैरना कितना पावन है। अधर किसलय की तरह है। और, ये बाँहें, विधु की दो नवीन किरणों की तरह हैं। कहीं भी वासना के कण का हल्का भी संकेत नहीं मिलता है। सब कुछ निष्कलुष सब कुछ पवित्र। नारी-रूप के चित्रण में विशेषणों की इस पवित्रता ने भी कामा ध्यात्म की महिमा को ध्वनित किया है। यों दिनकर ने यह कला छाया वादियों से सीखी है।

प्रत्येक रोमांटिक कवि की तरह दिनकर भी यह मानते हैं कि सौन्दर्य क्लान्ति का मिटाने का साधन है। जीवन के मरु-प्रदेश में चलते चलते जब पथिक थक जाता है, तब सौन्दर्य सुधा की तरह संजीवनी प्रदान करता है। जब तक जीवन में क्लान्ति है तब तक सौन्दर्य की महिमा अक्षुण्ण है। रूप प्राणों में नई हरियाली भर देता है। यानी रूप एक साधन है। वह साध्य नहीं है। *यह जीवन हमारी यात्रा का एक पड़ाव है। हमारी मंज़िल दूसरी* है। हमें अत्यन्त दूर देश जाना है। किन्तु परदेस की धरती पर पथिक को क्लान्ति मिटाने का साधन तो चाहिए। यही काम रूप का है। यथा—

रति मसृण धासित वह धरणी
ठहर पथिक मधु रस पीले
इन फूलों की छाँह सुधा से
करके मुख अधर गीले
आज सुमन मण्डप में सोकर
परदेसी निज श्रांति मिटा
चरण थके हँसि तेरे पथ
बड़े अगम ऊँचे टीले।[1]

पर परदेश में परदेशी की ममता बढ़ जाती है। उसे दूर देश जाना तो है फिर भी यह सुख भोगने वह ठहर जाता है। भविष्य को कौन देख पाया है? क्षणिक किन्तु मधुमय वर्तमान उपभोग्य है। दिनकर संसृति की नश्वरता को समझते हैं, पर, उसकी मोहकता से भागने में उन्हें क्लेश होता है। मनुष्य की विवशता का यह मार्मिक चित्रण है—

'यात्री हूँ अति दूर देश का
पल भर यहाँ ठहर जाऊँ

१ रसवन्ती २२।

थका हुआ हूँ सुन्दरता के
साथ बैठ मन बहलाऊँ
एक घूँट बस और' हाय रे
ममता छोड़ चलूँ कैसे
दूर देश जाना है अन्तिम
यह सुख रोज कहाँ पाऊँ।'[1]

'उर्वशी' में भी नारी रूप के सम्बन्ध में दिनकर का दृष्टिकोण यही है। दूर देश जाने वाले पथिक को सुख दुःख के लिए नारी के सान्निध्य से शान्ति मिलती है। इसमें पुरुष की समाप्ति घुल जाती है—

'और वन के कुसुम-द्रुम सुरभित विश्राम भवन वे
जहाँ मृत्यु के पथिक ठहरकर श्रान्ति दूर करते हैं।'[2]

ये 'मृत्यु के पथिक' दूर देश के यात्री हैं। पुरुरवा यही बात कहता है—

'अतः किसी भी भाँति आप अपनी सीमा अतिक्रम कर
अन्ततः उस दूर देश में हम सब को जाना है,
जहाँ न उठते प्रश्न न कोई शंका ही जगती है।'[3]

यह दूर देश दिनकर का अपना देश है। इस 'प्रवासी' को इस मृत्यु के पथिक को अपने देश का संदेश तो आता ही रहता है।[4]

'इन्द्रगीत' में 'उर्वशी का यह साम्य केवल भाव और विचारों का नहीं है, अपितु, कवि ने कुछ बिम्ब भी वहीं से उठा लिए हैं। यथा उर्वशी की प्रथम पंक्ति 'ऊपर है चन्द्रमा, द्वादशी का निर्मेघ गगन में'—यह बिम्ब 'इन्द्रगीत' से ही यहाँ आया है। द्वादशी का चन्द्र दिनकर को बहुत प्रिय है। यह कदाचित् व्यक्तिगत विलक्षणता है। क्योंकि द्वादशी के चन्द्र की हमारे साहित्य में कोई महिमा नहीं बतलायी गयी है। या, हो सकता है कि दिनकर वर्धिष्णु सौन्दर्य के लिए इसे उपयुक्त समझते हैं। जो हो 'इन्द्रगीत' में ही

---

१ इन्द्रगीत २४।
२ उर्वशी ११।
३ उर्वशी ११।
४ रसवन्ती की 'प्रवासी' शीर्षक कविता।

उन्होंने लिखा था—'बार-बार प्राची-चन्द्र की किरणों में तू मुसकाई। उसी प्रकार उर्वशी के प्रथम अनुच्छेद (पद) में ही एक दूसरा बिम्ब 'नील वारि' का आया है—'नील-वारि को फोड़ ज्योति के दीप निकल आये हों। इस बिम्ब का भी पहला प्रयोग दिनकर ने 'इन्द्रगीत' में ही किया था—'नील-वारि को मरण करो चरणों का राग बहाओ तो। कहना न होगा कि यह नीला रंग हिन्दी कवियों को बहुत प्रिय रहा है। सूरदास इसके रसिक प्रेमी थे—'देखो युवति वृन्द में ठाढ़ी नील-बसन तन गोरी। उसी प्रकार यौवन और प्रेम के कवि प्रसाद भी इसकी महिमा से अवगत हैं—

'नील परिधान बीच सुकुमार
खुल रहा मृदुल अधखुला अंग
खिला हो ज्यों बिजली का फूल
मेघ-वन बीच गुलाबी रंग।[१]

कलर-कन्ट्रास्ट (Colour-Contrast) के ये सब अच्छे उदाहरण हैं। यानी न केवल 'इन्द्रगीत' से उर्वशी में विचार साम्य ही है प्रत्युत उसके कई प्रभावशाली बिम्ब भी आकर 'उर्वशी' में और ज्योतित हो गए हैं।

कुरुक्षेत्र

दिनकर ने सौन्दर्य को सदा उपभोग्य माना है। इस सम्बन्ध में वह उस वैरागी दृष्टिकोण को नहीं मानते जो सौन्दर्य को केवल देखने की वस्तु मानता है और न वे यह मानते हैं कि जो अच्छा है सुन्दर है रमणीय है वह सब उपेक्षणीय है। 'कुरुक्षेत्र' जैसे काव्य में भी यह दृष्टिकोण बड़ी ही स्पष्टता के साथ उभर कर आया है। भीष्म युधिष्ठिर से कहते हैं—

'मुकुलित स्वस्थ सुरम्य सुमन को मरण भीति दिखलाकर
करती है रस भंग काल का भोजन उसे बताकर।
श्री सौन्दर्य तेज, सुख सबसे हीन बना देती है
यह विरक्ति मानव को दुर्बल दीन बना देती है।'[२]

× × ×

१ कामायनी ४९।
२. कुरुक्षेत्र, ११०।

'गन्ध रूप रस शब्द, स्पर्श मानो सब कुछ पातक हों।
रसना, त्वचा, प्राण इन धृति क्यों मित्र नहीं बाधक हों।'[1]

दिनकर निवृत्ति के इस संन्यास की कटु भर्त्सना करते हैं। 'कुरुक्षेत्र' के दर्शन की पीठिका यही है। दिनकर का समस्त काव्य प्रवृत्ति के उत्थान का काव्य है। 'कुरुक्षेत्र' वाला यही प्रवृत्तिमूलक दृष्टिकोण 'उर्वशी' में प्रकट हुआ है। उर्वशी पुरुरवा से कहती है—

'पढ़ो रक्त की भाषा को विश्वास करो इस लिपि का
यह भाषा, यह लिपि, मानस को कभी न भरमायेगी
छली बुद्धि की भांति जिसे सुख-दुख से भरे भुवन में
पाप दीखता वहाँ जहाँ सुन्दरता हुलस रही हो
और पुण्य-वन वहाँ जहाँ कंकाल, कुलिश कटि है।'[2]

दिनकर ने प्रवृत्तिमूलक दृष्टिकोण को अपनाया तो सही किन्तु, कहीं भी उन्होंने मात्र देह की क्षुधा को ही अन्तिम सत्य नहीं मान लिया। यह प्रवृत्ति 'रेणुका' से ही उभड़ती दिखाई पड़ती है। 'रेणुका' में ही 'परदेशी' शीर्षक कविता में मन के संन्यास का बेजोड़ चित्रण है। वहीं से दिनकर 'देह की क्षुधा' और 'मन के संन्यास' दोनों स्थितियों का संकेत करते आ रहे हैं। देह की महत्ता को उन्होंने चरम आदर्श के रूप में कभी भी स्वीकार नहीं किया। 'उर्वशी' में जो 'देह की क्षुधा' भी है और 'मन का संन्यास' भी यह दिनकर काव्य का अत्यन्त स्वाभाविक विकास है। दिनकर ने भोग को त्याज्य नहीं बतलाया। किन्तु, उन्होंने भोग को चरम सत्य भी स्वीकार नहीं किया। वे उसे मील का पत्थर ही मानते रहे जो मंजिल का संकेत भर करता है। 'कुरुक्षेत्र' में ही उन्होंने कहा था—

'भोगो तुम इस भाँति मृत्ति को दाग नहीं लग पाये
मिट्टी में तुम नहीं वही तुम में विलीन हो जाये।
मन का होगा आधिपत्य जिस दिन मनुष्य के तन पर
होगा त्याग प्रतिष्ठित जिस दिन भोग लिप्त जीवन पर।

---

१ कुरुक्षेत्र ११२।
२ उर्वशी ६१।

उस दिन होगा शुभप्रात नर के सौभाग्य उदय का
उस दिन होगा धर्म-ध्वनित मानव की महाविजय का। [१]

यह बात कितना ही विरोधपूर्ण क्यों न लगे किन्तु यह एक निर्मम सत्य है कि 'उर्वशी' का दर्शन 'कुरुक्षेत्र' में संक्षेप में ही सही किन्तु पूरी तरह प्रतिपादित हो चुका था। दिनकर ने कभी भी काम को त्याज्य और घृणित नहीं माना। वे उसे जीवन का अनिवार्य अंग मानते रहे हैं। ब्रह्मचर्य का उपदेश इन्होंने कहीं नहीं दिया है। उनकी विशेषता केवल इतनी ही है कि काम में लिप्सा नहीं रहनी चाहिए, नहीं तो वह कलुषित हो जाता है। काम-भाव की उपयोगिता और अनिवार्यता पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने भीष्म के मुँह से कहलवाया है—

ब्रह्मचर्य के व्रत के दिन जो व्यर्थ हुई थी धारा,
'कुरुक्षेत्र' में फूट उसी ने बनकर प्रेम पुकारा।
वहीं न कोमल वायु, कुञ्ज मन का था कभी न डोला
पत्तों के झुरमुट में छिपकर विहग न कोई बोला।
फ़ूटती होती मधुर प्रेम की मुस्कान कहीं अमरता,
स्यात् देश को 'कुरुक्षेत्र' का दिन न देखना पड़ता।'[२]

'उर्वशी में जिस रक्त की उष्णता को बुद्धि की निष्प्राणता से श्रेष्ठ बतलाया गया है, उसके अंकुर 'रसवन्ती' और 'कुरुक्षेत्र' की नर्सरी में ही तैयार हो रहे थे। यथा—

'हिम विमुक्त, निर्विघ्न तपस्या पर सिमटा जीवन है,
नयी दीप्ति, नूतन सौरभ से रहता भरा भुवन है।
किन्तु, बुद्धि नित खड़ी ताक में रहती घात लगाये
कब जीवन का ज्वार शिथिल हो कब वह उसे दबाये।
और सत्य ही कभी रुधिर का वेग तनिक कम होता,
सुस्ताने को कहीं ठहर जाता जीवन का सोता।
बुद्धि फेंकती तुरत जाल निज मानव फँस जाता है
नयी-नयी उलझनें लिये जीवन सम्मुख आता है।'[३]

---

१ कुरुक्षेत्र १४९ ८।
२ वही ५१ १२।
३ कुरुक्षेत्र, ५५।

इसी बात को उर्वशी और स्पष्टता से कहती है—

'रक्त बुद्धि से अधिक बली है और अधिक ज्ञानी भी
क्योंकि बुद्धि सोचती और शोणित अनुभव करता है।
गिरी बुद्धि की निर्मितियाँ निष्प्राण हुआ करती हैं
चित्र और प्रतिमा इनमें जो जीवन लहराता है
वह मूर्तों से नहीं, पत्र पाषाणों से आता है
कलाकार के अन्तर के हिलकोरे हुए रुधिर से।'

'नील कुसुम' और 'नए सुभाषित'

'नील-कुसुम' में दो कविताएँ ऐसी हैं जिनमें दिनकर का समाधिस्थ चिन्तन ताना-बाना बाँध सका है। एक है 'स्वप्न और सत्य', दूसरी है 'मतकी'। 'स्वप्न और सत्य' शीर्षक कविता में ही दिनकर ने पहली बार साँप को फ्रायडियन प्रतीक के रूप में उपस्थित किया है। साँप काम-क्षुधा का प्रतीक बन गया है, 'लहू में रेंगने लगते हजारों साँप सोने के'। यही बिम्ब 'उर्वशी' में भी कुछ-कुछ आ गया है—'रेंगने लगते सहस्रों साँप सोने के रुधिर में।'[1] लय की दृष्टि से 'उर्वशी' वाली पंक्ति में अधिक निखार आ गया है। किन्तु, दिनकर ने फ्रायडियन प्रतीक के रूप में साँप के बिम्ब का प्रयोग कम ही किया है। ठीक इसके विपरीत वे इसे जीवन की जिज्ञासाओं का प्रतीक मानते रहे हैं। साँप को देखने की यह दृष्टि नई है। निवृत्ति के संन्यास का उपहास करते हुए उन्होंने 'नए सुभाषित' में लिखा है—

जहाँ-जहाँ है फूल, वहीं क्या साँप है?
जहाँ जहाँ है रूप वहाँ क्या पाप है?
फूलों में क्या है कि भ्रम से चुनते हो?
पर, फूलों को देख शीश क्यों धुनते हो?

साँप वाले बिम्ब को यदि हम छोड़ दें तो यही बात वे इसी भाषा में 'उर्वशी' में भी 'पढ़ो रक्त की भाषा' वाली पंक्तियों में कह गए हैं।

---

१ उर्वशी ५१।
२ वही, ६१।

इस प्रकार 'उर्वशी' का प्रकाशन दिनकर साहित्य की कोई आकस्मिक घटना नहीं है। सच तो यह है कि 'उर्वशी' के सभी तात्त्विक चिन्तन किसी न किसी रूप में दिनकर के पूर्ववर्ती काव्यों में मिल जाते हैं। विचार की छोटी-बड़ी सरिताएँ 'उर्वशी' में आकर सागर बन गई हैं। हमारी राय में उर्वशी' का न लिखा जाना एक विस्मयजनक घटना होती।

स्वयं दिनकर ने लिखा है कि प्रत्येक कवि अपने जीवन में एक ही काव्य लिखता है। उसकी और रचनाएँ उसकी प्रयोगशाला की बाई-प्राडक्ट मात्र होती है। प्रयोग के क्रम में उनकी पैदाइश होती है। किन्तु, वह जिस लक्ष्य के लिए प्रयोग किए चलता है, वह किसी एक ही काव्य में प्रतिफलित होता है। 'रामचरित मानस' और 'कामायनी' इसी कोटि के काव्य हैं। तुलसी और जयशङ्कर प्रसाद की अन्य रचनाएँ बाई-प्रोडक्ट मात्र हैं। 'उर्वशी' दिनकर की प्रयोगशाला का वांछित आविष्कार है और यह विचारणीय है कि यह आविष्कार कितनी दूर तक सफल हुआ है। हमारी यह स्थापना है है कि न केवल रेणुका' और 'रसवन्ती बल्कि 'कुरुक्षेत्र' भी उर्वशी की पूर्व पीठिका है। यह बात दूसरी है कि 'कुरुक्षेत्र' का स्थायी भाव रति' न होकर निर्वेद और उत्साह है।

'उर्वशी के अध्ययन की यही पूर्व पीठिका है।

कामाध्यात्म की कविता

'उर्वशी' को कामाध्यात्म की कविता कहा गया है।

काम को अध्यात्म का बाधक तब समझा जाने लगा जब निवृत्तिमार्गी धर्मों का मध्ययुग में उत्थान हुआ। शुरू-शुरू में धर्म इतनी ही रोक लगाता था कि विवाहित स्त्री-पुरुष किसी तीसरे व्यक्ति से यौन-सम्बन्ध स्थापित न करें। उस समय विवाह करना अथवा गृहस्थ बनकर रहना न तो पाप समझा जाता था और न अध्यात्म का बाधक ही। किन्तु, जब धर्म का निवृत्तिवादी रूप बढ़ा तब कामाचार दुराचार का पर्याय बन गया और यह माना जाने लगा कि जब नर-नारी एक दूसरे को जान लेते हैं तब वे ईश्वर के पास नहीं पहुँच सकते। बौद्ध जैन और ईसाई धर्म निवृत्ति-मूलक हैं। इन धर्मों ने गार्हस्थ्य की महिमा का खंडन किया है और युवकों को संन्यास लेने की प्रेरणा दी। इन धर्मों की शिक्षा से यह निष्कर्ष निकलता है कि जीवन आरम्भ करने वाले संन्यासी को रेशम के स्पर्श का लोभ नहीं होना चाहिए और व्यक्ति को अपनी आत्मा के सुकुमार तत्त्व को उभरने नहीं देना चाहिए। इन धर्मों की यह धारणा इतनी बद्धमूल हो गई कि लोग यह मानने लग गए कि जहाँ-जहाँ नारी का रूप है, वहाँ-वहाँ पाप है। उससे बचकर ही रहना चाहिए। बुद्धदेव नारियों को भिक्षुणी होने का अधिकार नहीं देना चाहते थे और अपने प्रिय शिष्य आनंद के अनुरोध पर जब उन्होंने नारियों को यह अधिकार दिया तो उन्हें बड़ा पश्चात्ताप भी हुआ। ईसाई धर्म के आचार्य संत पोल ने कहा—'पुरुष के लिए यह अच्छा है कि वह नारी का स्पर्श न करे। आधुनिक युग में गांधी जी भी नारी-समागम को अच्छी दृष्टि से नहीं देखते थे।

काम पर नियन्त्रण स्थापित करने का काम अत्यन्त दुरूह सिद्ध हुआ। हर युग में, हर देश में धर्म और काम झगड़ते आए और अधिक बार यह हुआ कि काम की वायु से धर्म का दीपक बुझ गया। धर्माचारियों ने स्खलित होने वाले नर-नारियों की भर्त्सना की किन्तु यह स्खलन रुका नहीं। काम

की व्याप्तियाँ बहुत दूर तक जाती हैं और मनुष्य के अहरम आचरणों को भी वे प्रभावित करता है। इसे अपदस्थ करने की चाहे जितनी भी चेष्टा की जाए, वह बार-बार सिंहासन के ऊपर आ बैठता है और शास्त्र एवं नैतिकता के प्रहरी उसे बाँधने की जो भी तैयारी करते हैं उसपर संघर्ष का देवता व्यंग्य से मुसकुराता है, मानो, वह यह कह रहा हो कि उतने बंधन तो मैं तोड़ चुका देखूँ, इस बार तुम कैसी कड़ियाँ तैयार करते हो।' काम अध्यात्म का बाधक इसलिए माना गया कि भ्रमवश निवृत्तिमार्गी धर्मों के प्रभाव में लोगों ने अध्यात्म और प्रकृति को परस्पर विरोधी मान लिया। अध्यात्म की व्याख्या निषेधात्मक ढंग से की गई विध्यात्मक ढंग से नहीं। अध्यात्म को हमने इस दृष्टि से समझा कि वह क्या नहीं है इस दृष्टि से नहीं कि वह क्या है। पिछली दृष्टि से देखने पर अध्यात्म प्रकृति का विरोधी नहीं न काम अध्यात्म का शत्रु लगेगा।'[२]

आधुनिक युग में जब विज्ञान का उदय हुआ तो पुरानी नैतिकता की रीढ़ टूट गई विज्ञान ने मनुष्य के कितने अंध विश्वासों के झाड़-झंखाड़ को उखाड़ डाला और नए मूल्यों की पदाइश हुई। जैविकी और मनोविज्ञान के आविष्कारों ने मनुष्य की संकीर्णता को कम किया और उसे उदार बना दिया। जैविकी के आविष्कारों से मनुष्य यह समझने लग गया कि काम शरीर का अभिशाप भ्रम है और मनुष्य रक्त और मांस तथा सनसनाहटों का पंज है। इनकी पुकार की वह अवहेलना नहीं कर सकता है। जब फ्रायड आए तब मनोविज्ञान की ज्योति में मनुष्य ने अपनी सीमाओं और शक्तियों को पहचाना और यह विश्वास जमने लगा कि मनुष्य के व्यक्तित्व संतुलित विकास के लिए काम-सुख से पलायन श्रेयस्कर नहीं। फ्रायड ने अपने मनोवैज्ञानिक अनुसन्धानों के द्वारा निश्चित रूप से यह प्रतिपादित किया कि काम सुख अत्यन्त उत्कृष्ट सुख है और मनुष्य को इनसे भागना नहीं चाहिए। फ्रायड के अनुसंधानों ने संसार में विप्लव ला दिया है और निवृत्ति-मार्गी धर्मों के अंकुश इस बाढ़ में बह गए। पुराने धर्माचार्यों ने सेक्स-विषयक ज्ञान पर भी प्रतिबंध लगा दिया था तथा युवक और युवती बन्द कोठरी में ही, छुप-छिपकर, यौन विषयक ग्रंथों का अध्ययन कर सकते थे। प्रेम के

---

१ धर्म, नैतिकता और विज्ञान : २

२ दिनकर के व्यक्तिगत नोट से

आविष्कार ने पुस्तकों को सस्ता बना दिया और अब युवक और युवती कलियों से प्रायड का अध्ययन कर निकलने लगे तो उन्हें इस बात का भय नहीं रह गया कि काम शास्त्र के ग्रंथों का वे छिपकर अध्ययन करें। समाज अब भी पुराने संस्कारों से मुक्त नहीं हो सका है और ऐसे लोग अब भी हैं जो फ्रायड से सहमत नहीं हैं। यूरोप में ऐसे लोग अब अल्पसंख्यक हैं और हमारे देश में अब भी बहुतायत में हैं तथा समाज का नेतृत्व उन्हीं के हाथों में है। किन्तु विज्ञान ने उनके नेतृत्व को ढीला कर दिया है तथा सेक्स विषयक ज्ञान आज के युवक और युवतियों के हाथों में बहुत सहज ढंग से पहुँच रहा है। इस स्थिति का वर्णन करते हुए दिनकर ने कवित्वपूर्ण भाषा में लिखा है—'यह ज्ञान तो दूकानों से पुकार रहा है, सीनेमा के स्टालों पर पत्तलबारी कर रहा है, फिल्म के पर्दों पर चमक रहा है और उपन्यासों तथा अन्य साहित्य के जरिए घर-घर में प्रवेश कर रहा है।'[1]

अनुभूतियाँ पहले काल के गर्भ में पकती हैं, कवि तब उनका आख्यान लिखता है। कोई भी कवि पहले अपने समय का कवि का होता है तब और कुछ काल के देवता के इंगित पर आता है और उन्हीं की अनुभूतियों को भाषा प्रदान करता है। इसलिए कोई भी कवि समय से पहले नहीं आता है। कवि दार्शनिक तो नहीं होता किन्तु दर्शन की विशेष धारा उसकी *कविता को प्रभावित करती है। मध्ययुग में जब एकादशी और पूर्णिमा की* चीज था किन्तु धर्म की पूर्ण सार्थकता तब है जब वह मनुष्य के दैव आचरणों को प्रभावित करे और वह प्रत्येक सांस में समा जाए। धर्म के प्रति यह दृष्टिकोण अब विज्ञान के आलोक में उभरने लगा है। आज मनुष्य यह नहीं मानता कि काम अध्यात्म का बाधक है। यह ब्रह्मचर्य की महिमा का खंडन नहीं है। प्रकृतितः लोग आज भी हैं और उपवास भी करते हैं। किन्तु प्रकृति स्वयं न तो यह कहती है कि खाओ ही न नहीं कि उपवास करो। उपवास की तरह ब्रह्मचर्य भी स्वास्थ्य कृत्य है मगर शक्ति सिद्धियों से निकलकर किसी अन्य दिशा में काम करे। केवल धार्मिक कृत्य मानकर ब्रह्मचर्य धारण करने वाले का दोष यह है कि वह काम को अध्यात्म का विरोधी मानकर चलता है।'[2] इसलिए आज का कवि धर्म के ऐसे लोगों

---

१ धर्म, नैतिकता और विज्ञान १२

२ दिनकर के व्यक्तिगत नोट से

से प्रभावित होता है जो भ्रोत या तो काम के पर्वत से निकलते हैं या काम के समुद्र में जाकर समाहित हो जाते हैं।

जब विज्ञान के अनुसन्धानों के आलोक में काम की महिमा बढ़ी और रहस्यों की प्रतिष्ठा बहुत ऊँची उठ गई तब कवि और चिंतक बदन के ऐसे स्रोत के पास पहुँचने लग गए जो काम के तटों से होकर बहता है। जब ऐसे दर्शनों के प्रति जिज्ञासा बढ़ी तब लोगों ने आश्चर्य से देखा कि फ्रायड से पहले भी कितने ऐसे धार्मिक सम्प्रदाय हुये थे जो काम को गर्हित नहीं समझते थे। अब चिंतकों को इस सत्य का साक्षात्कार होने लग गया कि सेक्स ने मनुष्य के विस्तृत धार्मिक अन्वेषणों में बराबर महत्वपूर्ण योगदान दिया है। अभिमंत्रित करने की जो धार्मिक प्रथा बहुत बड़े पमाने पर आदिम मनुष्यों में प्रचलित है वे प्रथाएँ यौन रहस्यों की शिक्षा से सम्बन्धित हैं। स्टार्बक नामक विद्वान ने धर्म परिवर्तन के सम्बन्ध में जो सामिग्री एकत्र की है उससे यह निष्कर्ष निकलता है कि यह धर्म परिवर्तन युवावस्था के आगमन के समय ही अधिक होता है। स्टार्बक ने यह भी बतलाया है कि धर्म परिवर्तन और युवावस्था ये दोनों एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। इस निष्कर्ष की पुष्टि अन्य समाजिक तथ्यों से भी होती है। शिकार, मछली मारना या कृषि इत्यादि से सम्बन्धित आदिम धार्मिक उत्सव हमेशा किसी न किसी स्पष्ट या प्रतीकात्मक रूप में यौन-वृत्तियों की अभिव्यक्ति हुआ करते थे। कितनी आदिम जातियों के वसंतोत्सवों में फसल बोने और काटने से सम्बन्धित जादुई धार्मिक आचारों में आदिम दर्शनों की प्ररचना और चिह्नों तथा तरह-तरह के नृत्यों और धार्मिक मन्त्रों जादू-टोने आदि में हम प्रत्यक्ष या प्रच्छन्न रूप में यौन अभिव्यक्ति पाते हैं। धर्म-परिवर्तन करने वाले व्यक्तियों के जीवन-चरित्र के अध्ययन से यह पता चलता है कि धर्म-परिवर्तन के पहले उनके जीवन में यौन सम्बन्धी तनाव और विकृति थी। पूर्ण धार्मिक मनुष्य के जीवन में भी कभी-कभी पूर्ण यौनावेग और उसकी अभिव्यक्ति पाई जाती है। ऐसे कई धार्मिक सम्प्रदाय हैं जो यौन अभिव्यक्ति को पाप नहीं मानते। सूफीमत में तान्त्रमत में वज्रयान में और वैष्णवों के सहजिया सम्प्रदाय में किसी न किसी रूप में यौन अभिव्यक्ति का विधान है। न केवल इन्हीं धार्मिक सम्प्रदायों में बल्कि ग्रीस मिस्र और भारत के पुरातन धर्मों में हम पाते हैं कि सेक्स ब्रह्माण्ड व्यापी प्राण-शक्ति का मन या वाहक है और इसी से मूर्त्तों का विधान हुआ तथा यौन अभिव्यक्ति का विविध करने वाली

मूर्तियों का निर्माण मंदिरों में किया गया। सेक्स ने इस प्रकार धार्मिक मनोवृत्ति के संगठन में योगदान दिया है। वैज्ञानिक दृष्टि से सेक्स के विकास के लिए जिन हारमोन्स का शरीर में क्षरण होता है वे शरीर की अन्य क्रियाओं को भी उत्तेजित करते हैं। युवावस्था में सेक्स से जो उत्तेजना होती है वही उत्तेजना अंततः मनुष्यों को ऊँचे आदर्शों की ओर भी खींचती है। इसलिए युवावस्था में ही मनुष्य आदर्शवादी भी होता है और रागिनियों की ओर भी भागता है।'[1]

हमारे देश में जब प्रवृत्ति का उत्थान हुआ तब लोगों ने निवृत्ति-मार्गी दर्शनों से छुट्टी पा ली। नई नैतिकता काम को त्याग कर चल नहीं सकती थी। इसलिए ऐसे दर्शनों की ओर लोगों की दृष्टि गई जो काम से बिदकते नहीं हैं। ऐसे धार्मिक सम्प्रदाय हमारे देश में तीन प्रमुख हैं—वाम सिद्धान्त और कौल। दक्षिण पंथी मतों में शैव और शाक्त मत काम को गर्हित नहीं मानते हैं। यह आश्चर्य की बात नहीं है कि कामाध्यात्म की कविता लिखने के लिए कामायनीकार को भी शैव-शाक्त दर्शनों का सहारा लेना पड़ा। उर्वशीकार जब काम के द्वारा अध्यात्म की भूमि पर पहुँचने की चेष्टा करने लगा तो उसे भी शैवों और शाक्तों के दर्शनों को ही आधार किला मानना पड़ा सहजिया सम्प्रदाय की शरण लेनी पड़ी। शैव और शक्ति मत की धारा काम के तटों से होकर बहती है, वामाचार का स्रोत काम के पर्वत से फूटता है और सहजिया सम्प्रदाय की अंतिम परिणति काम के समुद्र में होती है। दिनकर की रश्मियाँ इसी समुद्र से अपना मेघ-जल ले आई हैं और पश्चिम से बहकर आने वाली लॉरेन्स प्रभृति विचारकों की नदी पर बरस उठी हैं। उर्वशी की दार्शनिक पीठिका की यही मनोवैज्ञानिक पृष्ठ-भूमि है।

उर्वशी में शाक्त-दृष्टि

शाक्त मतावलम्बी शाक्त-धर्म को उतना ही प्राचीन मानते हैं जितना प्राचीन वैदिक धर्म है। तंत्रवाद के अनुसार सृष्टि का उद्भव और विकास शिव और शक्ति के संयोग से होता है। तांत्रिकों की दृष्टि में शिव तथा

---

१ The Horizon of Marriage राधा कमल मुखर्जी, १११–११६ (विशेष विवरण के लिए देखिए)

शक्ति म कोई भेद नहीं है। मूलत दोनों एक ही हैं। जो परम शिव है वही परमशक्ति है। शक्ति के बिना शिव इच्छाहीन ज्ञानहीन क्रियाहीन और स्पदन म असमथ शव मात्र है, और प्रकाशात्मक शिव के बिना शक्ति आत्म प्रकाश में भी असमर्थ है। दोनों ही चिद्रूप होने के कारण स्वरूपत अभिन्न हैं, एव एक को छोड़कर दूसरा रह भी नहीं सकता। वस्तुत चित्त स्वरूप में लिंग भेद नहीं है। इसलिए वह अलिंग होकर भी सर्व लिंग रूप म प्रकाशित होता है तथा नानालिंग रूप में प्रकट होने पर भी अभिन्न है। कुहनी में लिखा है—

शिवो देव शिवा देवी शिवज्योतिरिति त्रिधा।
अलिंगमपि तत्तत्त्वं लिंग भेदेन कथ्यते॥ (कुमार कृतात्मप्रकाश काव्य)
यह निम्न निर्दिष्ट श्वेताश्वतर श्रुति की ही प्रतिध्वनि है—नैवस्त्री न पुमानेष न चापं (स्यात्) नपुसक।

'शिव शक्ति मिलने के कुछ दूसरे सबूत भी हैं जिनका उल्लेख शैवागम और पुराणों में पाया जाता है। शरीर के वाम भाग म शक्ति बसती है और दक्षिण भाग में शिव। एक ही शरीर में शिव और शक्ति का एकत्र निवास यही अर्धनारीश्वर की कल्पना है। योग-दर्शन के अनुसार दक्षिण श्वास का नाम पिंगला है जिसमें शिव का निवास है और वाम श्वास का नाम इड़ा जिसमे शक्ति निवास करती है। साधक का कर्तव्य है कि वह पिंगला और इगला को एक स्थान पर लाकर उन्हें एकाकार कर दे। श्वासो के इस एकीकरण का पारिभाषिक नाम सुषुम्ना है। जब ये एक दूसरे स बढ़कर या घट कर नही चलते तब वे तटस्थ स्थिति मे पहुँच कर समरसता को प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार शरीर और मन के द्वन्द्वों को भी तटस्थ बनाना उन्हें समरसता की अवस्था में ले जाना तंत्र साधना का ध्येय है। योग के साथ काम का मिश्रण तत्रमार्गियों ने इस विचार स किया कि साधक और साधिका दोनों इस अनुभूति तक पहुँच सकें कि वास्तव में वे नर-नारी नही प्रत्युत, उससे भिन्न कोई और तत्त्व है जिसमें लैंगिक भेदो का आरोप नहीं किया जा सकता जो शुद्ध बुद्ध और सभी लिंगवाचक गुणों स स्वतन्त्र है।'[1] दिनकर का पुरूरवा इसी दार्शनिक उपपत्ति का उपस्थित करते हुए कहता है—

---

१ स० श्वा० म २२६

'वह निरभ्र आकाश जहाँ की निर्विकल्प सुषमा में
न तो पुरुष मैं पुरुष, न तुम नारी केवल नारी हो
दोनों हैं प्रतिमान किसी एक ही मूल सत्ता के
देह-बुद्धि से परे, नहीं जो नर अथवा नारी है।'[1]

'तन्त्र मार्ग की एक क्रांतिकारी धारणा यह भी थी कि तन्त्र साधना करने से साधक गृहस्थ होता हुआ भी सिद्ध हो सकता है। किन्तु सिद्धि का प्राधान्य शाक्त-साधना में बाद को हुआ। वैसे यह साधना भी मोक्ष की ही साधना है। जीव मात्र को शाक्त तन्त्र तीन कोटियों में विभक्त करते हैं। सबसे नीचे 'पशु' हैं जो माया के पाश में आबद्ध हैं। उसके ऊपर 'वीर' और उससे भी ऊपर 'दिव्य' जीव की कोटियाँ हैं। साधना के क्रम से 'पशु' को ऊपर उठकर 'वीर' की कोटि में आना पड़ता है और जो 'वीर' की कोटि से ऊपर उठ गया वह 'दिव्य' बन जाता है।'[2] *पुरूरवा पशु से ऊपर* उठा हुआ प्राणी है जो 'वीर' से 'दिव्य' कोटि तक पहुँचना चाहता है। उसकी आध्यात्मिक पीड़ा यही है—

'ये किरणें, ये फूल किन्तु, अन्तिम सोपान नहीं हैं
उठना होगा बहुत दूर ऊपर इनके तारों पर
स्यात्, ऊर्ध्व उस अम्बर तक जिसकी ऊँचाई पर से
यह मृत्तिका-विहार दिव्य किरणों का हीन लगेगा।'[3]

अद्वैत साहित्य में परमात्मा की तीन यात्राओं का विवरण मिलता है। उनमें पहली यात्रा है—परमात्मा से बहिर्मुख होने पर अविद्या के अवलम्बन द्वारा जीव-भाव धारण कर मनुष्य भाव की प्राप्ति तक। दूसरी यात्रा है—मनुष्य भाव में ज्ञान-प्राप्ति द्वारा अविद्या को हटाकर फिर सचेतन भाव से शिव-भाव या परमात्म भाव की प्राप्ति एवं सोऽहम् रूप में अपने बोध स्वरूप का पूर्ण परिचय होने तक। पहली यात्रा अज्ञान की यात्रा है और दूसरी यात्रा है ज्ञान की। ज्ञान की यात्रा धारा के विपरीत चलने के समान है। 'वामाचार उल्टी धारा की साधना है। इसका दार्शनिक आधार यह कल्पना है कि शिव-शक्ति से छूट कर जीव माया के प्रवाह में बहता-बहता जन्म

१ उर्वशी ९१
२ मं० वा० प० २२१
३ उर्वशी ९९

ग्रहण करता है। अतएव यह यदि मोक्ष पाना चाहे तो उसे उलट कर उस उद्गम की ओर गमन करना चाहिए जहाँ से माया की धारा निःसृत हुई है।[1] कहने की आवश्यकता नहीं कि यह उल्टी यात्रा अत्यन्त कठिन कार्य है। इसलिए जीव बन्धन से सहज मोक्ष नहीं पाता है। पुरुरवा कहता है—

'एक बुद्धि से अधिक बली है अधिक समर्थ तभी तो
निज उद्गम की ओर सहज हम लौट नहीं पाते हैं।
पहुँच नहीं पाते उस अव्यय एक पूर्ण सविता तक
खोये हुए अचेत मानसी किरणों के कम्पन में।'[2]

'वामाचार ने इस विषय पर जोर दिया कि संसार से मुक्ति का उपाय उससे भागना नहीं प्रत्युत् सर्वतोभावेन उसे स्वीकार करना है। वामाचारियों का विश्वास है कि जो चीज मनुष्य को नीचे गिराती है, वही उसे ऊपर भी ले जाती। *इसी विश्वास के कारण वाम-मार्ग में मद्य मांस-मीन मुद्रा और मैथुन से युक्त पंचमकार पूजा का प्रचलन हुआ जिससे कितनी ही* बुराइयाँ उत्पन्न हुईं और शाक्त-धर्म दूषित एवं कलुषित समझा जाने लगा।[3] दिनकर भी काम के सम्बन्ध में यही राय रखते हैं कि उसके द्वारा मनुष्य ऊँचा भी उठ सकता है और नीचे भी गिर सकता है। उर्वशी कहती है—

काम धर्म काम ही पाप है काम किसी मानव का
उच्च लोक से गिरा हीन पशु जन्तु बना देता है।
और किसी मन में असीम सुषमा की तृषा जगाकर
पहुँचा देता उसे किरण-सेवित अति उच्च शिखर पर।[4]

'जब जीव शिव-शक्ति में निहित था, तब वह सच्चिदानन्द स्वरूप और अद्वैत की स्थिति में था। शिव शक्ति से निःसृत होने पर ही द्वैत में पड़ा है। इसीलिए संसार की कुछ वस्तुओं को वह काम्य तथा कुछ को अकाम्य समझता है कुछ को प्रिय और कुछ को अप्रिय मानता है।'[5] दिनकर कहते हैं—

---

१ स० सा० भ० २२४
२ उर्वशी ६१
३ स० सा० भ० २२४
४ उर्वशी ८४
५ सं० सा० भ० २२८

'मन की वृत्ति यह द्वैत, प्रकृति में, सचमुच, द्वैत नहीं है।
जब तक प्रकृति विभक्त पड़ी है श्वेत-श्याम खण्डों में
विश्व तभी तक माया का मिथ्या प्रवाह लगता है।
किन्तु, शुभाशुभ भावों से मन के तटस्थ होते ही
न तो दीखता भेद न कोई शंका ही रहती है।'[1]

इसी प्रिय और अप्रिय लगने के भाव से विधि और निषेध के नियम बने हैं जो बिल्कुल कृत्रिम हैं। असल में संसार का कोई भी कृत्य करणीय या अकरणीय नहीं है।[2] विधि और निषेध मुक्ति के मार्ग नहीं हैं वे मन के बंधन हैं। विधि और निषेध के बिना जीवित रहने वाला मन ही उच्च मानवता का मन है। विधि और निषेध विषयक संकल्प से द्वैत पैदा होता है वेदना और सुख में द्वन्द्व उत्पन्न होता है। उर्वशी कहती है—

'हम इच्छुक अकलुष प्रमोद के, पर, वह प्रमुद निरामय
विधि निषेध-मय संघर्षों यत्नों से साध्य नहीं है।
आता है वह अनायास जैसा फूटा करती हैं
डाली से टहनियाँ और पत्तियाँ स्वतः टहनी से
या रहस्य चिंतक के मन में स्वयं कौंध जाती है
जैसे किरण अलक्ष्य लोक की भेद अगम सत्ता का।'[3]

पुनः—'विधि निषेध हैं जहाँ, वहाँ पर कर्म अकाम नहीं है
विधि निषेध कुछ नहीं नियम हैं वे मनन-भजन के।'[4]

इसी बात को पुरूरवा और अधिक सफलता से उपस्थित करता है—

'विधि निषेध सत्य ही स्यात् जल पर की रेखाएँ हैं,
कोई लेख नहीं उगता भीतर के अगम सलिल पर।
और ज्वार जो भी उठता ऊपर अवचेतन-तम से
विधि-निषेध का उस पर कोई जोर नहीं चलता है।'[5]

---

१ उर्वशी ७१
२ सं० भा० म० २२४
३ उर्वशी ७१
४ वही ८०
५ वही, ८३

विलकर मानते हैं कि विधि और निषेध सम्यकतम मानवता की पहचान नहीं हैं ये सतह पर के फेन और बुलबुले हैं। मनुष्य का चरम लक्ष्य मोक्ष है। उनके अनुसार–

'मुक्त नहीं या सहज भावना में इसमें बहते हैं,
विधि निषेध से परे छूटकर सभी कामनाओं से
किसी ध्येय के लिए नहीं केवल बहते रहने को
क्योंकि और कुछ भी करना सम्भव या साध्य नहीं है।'[1]

तांत्रिक साधकों का विश्वास इस बात में रहा है कि पिंड और ब्रह्मांड दोनों एक हैं। जो शक्ति महाब्रह्मांड में फैलकर सृष्टि की सीमा का विस्तार करती है, वही पिंड (शरीर) के भीतर भी अपना काम कर रही है। मानव शरीर के भीतर जो जैव नियम क्रियाशील हैं वे ही भौतिक नियम बनकर ब्रह्मांड में काम कर रहे हैं। अतएव सत्य के लिए आकाश-पाताल छानने का प्रयत्न व्यर्थ है। सत्य मनुष्य के शरीर के भीतर छिपा हुआ है और उसे उपलब्ध करने का साधन भी मानव शरीर ही है।'[2] इसी ब्रह्मांडव्यापी शक्ति के सम्बन्ध में उर्वशी कहती है—

'शिखरों में जो मौन वही झरनों में गरज रहा है,
ऊपर जिस की ज्योति छिपा है वही गर्त के तम में।'[3]

'यह विचार तर्क सम्मत है कि जीव मुक्त तभी हो सकता है जब उसके सार पाश छूट जाएँ। पाशों में से कामिनी और कांचन ये दो पाश महा भयानक हैं। वैदिक धर्म के अन्दर जो भी सम्प्रदाय बने, उन्होंने यही सिखाया कि मोक्ष प्राप्ति के लिए माया के पाशों से छूटना अत्यन्त आवश्यक है। कर्मवादियों ने कर्म के द्वारा ज्ञानमार्गियों ने ज्ञान के द्वारा इन्हीं पाशों से छूटने का प्रयास किया। एक शाक्त धर्म ही ऐसा निकला जिसने यह कहा कि माया के असत्य होने कारण उसके गढ़े हुए पाश भी असत्य हैं। वे कुछ नहीं में कुछ होने के भ्रम मात्र हैं। अतएव उनमें भागना व्यर्थ है।'[4] उर्वशी पुरूरवा को समझाते हुए कहती है—

---

१ उर्वशी ८२
२ सं० शा० प० २२५
३ उर्वशी ७८
४ सं० शा० प० २२७

प्रकृति नहीं माया माया है नाम भ्रमित इस धी का
बीचों-बीच सर्प-सी जिसकी जिह्वा फटी हुई है
एक जीभ से जो कहती कुछ सुख भ्रमित करने का
और दूसरी से बाकी का वमन सिखाती है।[1]

'कामिनी माया का सबसे प्रबल पाश मानी जाती थी। शाक्त धर्म ने अपने वीर-कोटि के साधकों से कहा तुम उस स्थिति में आ गए हो जब नारी समागम भी तुम्हारे लिए पाश नहीं उदात्तीकृत आनन्द का ही प्रतीक होगा। तुम इस भाव से समागम करो कि प्रत्येक पुरुष में शिव और प्रत्येक नारी में शिवा प्रच्छन्न है और जहाँ भी नर-नारी का समागम होता है, वहाँ असल में शिव और शक्ति ही समागम कर रहे हैं।[2] दिनकर का पुरुरवा इसी ऊँचाई से बोलता है—

'यह अति भ्रान्ति वियोग नहीं शोणित के तप्त ज्वलन का
परिवर्तन है स्निग्ध शान्त दीपक की सौम्य शिखा में।
मिथ्या नहीं प्रशस्ति प्रेम की रसना नहीं समर्पण
त्याग नहीं संचय उपत्यकाओं के कुसुम-द्रुमों को
ले जाता है यह समूल नगपति के तुंग शिखर पर,
वहाँ जहाँ कैलाश प्रान्त में शिव प्रत्येक पुरुष है
और शक्तिदायिनी शिवा प्रत्येक प्रणयिनी नारी।'[3]

अन्य धर्मों ने काम को पाप माना था। शाक्त साधकों ने उसे भी पवित्र कर्म मान लिया। उर्वशी की भूमिका में दिनकर ने लिखा है— इन्द्रियों के मार्ग से अतीन्द्रिय धरातल का स्पर्श यही प्रेम की आध्यात्मिक महिमा है। देह और काल की सीमा से बाहर निकलने का एक मार्ग योग है किन्तु उसकी दूसरी राह नर-नारी प्रेम के भीतर से भी निकलती है मनुष्य का यह अनुमान अत्यन्त प्राचीन है। शाक्तमत इस दृष्टिकोण का समर्थन करता है। शाक्त-धर्म में साधक का साधिका के साथ समागम का प्रतीक है। योगी योग के द्वारा जिस अनुभवी भूमिका में पहुँचते हैं प्रणयी आलिंगन-पाश में

१ उर्वशी ७८
२ सं० भा० सं० २२७
३ उर्वशी ५४

आबद्ध होकर उसी भूमिका का साक्षात्कार करते हैं। रात्रि के रोमांटिक रस को प्रस्तुत करते हुए पुरूरवा कहता है—

> मिथ्या योग-आहुति का क्षण है और उदग्र प्रताप की
> ऐकान्तिक समाधि काम के इसी मग्न के नीचे
> भूमा के रस-पथिक समय का अतिक्रमण करते हैं
> योगी बड़े अपार योग में प्रणयी आलिंगन में।[1]

शाक्त संस्कारों में दीक्षित दिनकर यह सहज मानते हैं कि चुम्बन और चिंतन एक ही सत्य के सागर में पहुँच कर रीत जाने वाली दो नदियाँ हैं। रहस्य हीन नहीं होता है। त्वचा और रुधिर की उष्णता को भोगते हुए भी वह ईश्वर तक पहुँच सकता है। उर्वशी कहती है—

> 'देवता एक है अवित नहीं इस मंदिर शान्ति की छाया में
> आरोहण के सोपान लगे हैं त्वचा रुधिर में काया में।
> परिरंभ-पाश में बंधे हुए उस अम्बर तक उठ जाओ रे।
> देवता प्रेम का सोया है, चुम्बन से उसे जगाओ रे।[2]

लारेन्स का प्रभाव

यूरोप में जब फ्रायड का आगमन हुआ तब काम के सम्बन्ध में समाज का दृष्टिकोण बदलने लगा और धर्म भी कुछ-कुछ उदार हो गया। आधुनिक युग का नेता यूरोप है। चिंतन पहले यूरोप में होता है। तब उसकी धारा भारत में भी बहकर चली आती है। यूरोप में ही विज्ञान अपने प्रकर्ष पर पहुँचा और वहीं उसकी प्रतिक्रिया भी शुरू हुई। विज्ञान बुद्धिवाद की देन है और बुद्धि के द्वारा ही वह सत्य के सभी छोर तक पहुँचना चाहता है। मानना होगा कि जीवन में अनेक स्थल ऐसे हैं जहाँ बुद्धि की सुनहली किरण नहीं पहुँचती है। यूरोप में इस बुद्धिवाद का विरोध नीत्से अनातोले फ्रांस और लॉरेन्स ने किया। लॉरेन्स बुद्धिवाद का विरोधी था किन्तु काम का वह जबरदस्त समर्थक था। उसका कहना है पवित्रतावाद ने समाज में समाज को असंतुलित बना दिया है। मध्ययुग में पवित्रतावाद का उत्थान हुआ और समाज खोखले आदर्शवाद से ग्रस्त हो गया। लॉरेन्स का कहना

१ उर्वशी ५८
२ उर्वशी ९९

है कि अंग्रेजी समाज चॉसर के समय में सेक्स से उतना नहीं भागता था जितना कि वह शेक्सपियर के समय से भागने लगा। चॉसर काम के शारीरिक पक्ष का वर्णन बड़ी सहजता से करता है और उसे कोई छिपाव नहीं है। किन्तु, शेक्सपियर के साहित्य में यह बात नहीं है। लॉरेन्स ने हैमलेट की मनःस्थिति का विश्लेषण करते हुए बतलाया है कि उसकी ग्रन्थि काम के शारीरिक पक्ष की ग्रन्थि है। हैमलेट अपनी माँ के अवैध प्रेम से चिढ़ा हुआ है। हैमलेट को अपनी माँ के अगम्य यौन-सम्बन्ध (Incest love) से ग्रंथि बनती है। यही ग्रन्थि उसे ओफेलिया के प्रेम से भी विरक्त रखती है। शेक्सपियर से ही चॉसर के निश्छल प्रेम का रूप मिलना दुर्लभ हो गया। इसके कारण का विश्लेषण करते हुए लॉरेन्स ने बतलाया है कि १४वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से ही इंगलैंड में उपदंश रोग का आना शुरू हो गया था और शेक्सपियर के समय तक तो वह बहुत जोर से इंगलैंड में फैल चुका था। लॉरेन्स ने खुलासा किया है कि शेक्सपियर के साहित्य में इस उपदंश रोग की छाया दिखलायी पड़ती है। शेक्सपियर बार-बार अभिशाप के लिए Pox का उल्लेख करता है। सोलहवीं शताब्दी तक उपदंश रोग बहुत व्यापक हो गया था और इसका प्रभाव उस युग की कामिनी चेतना पर पड़ने लगा था। इंगलैंड और स्कॉटलैंड के राज-परिवार उपदंश से ग्रस्त थे। एलिजाबेथ प्रथम और छठा एडवर्ड पैदाइशी उपदंशग्रस्त थे। एलिजाबेथ को इसी रोग के कारण भौंहें नहीं थीं, उसके दाँत सड़ गए थे और अपने को उसने ब्याह के योग्य नहीं समझा होगा। छठा एडवर्ड इसी रोग से बचपन में ही मर गया। इसी उपदंश रोग के कारण मेरी निःसन्तान ही मर गयी। इसी तरह ट्यूडर वंश के सभी राजे मर गए और उपदंश से ग्रस्त दूसरा सम्राट सिंहासनारूढ़ हुआ—जेम्स प्रथम। स्कॉटलैंड की रानी मेरी का भाग्य भी ट्यूडर राजाओं से अच्छा नहीं था। जब सेंट एण्ड्रूज का आर्क बिशप मेरी के पुत्र जेम्स का नामकरण कर रहा था तब मेरी उसे (आर्क बिशप को) देखकर घबड़ा गई थी क्योंकि उसकी सारी देह पर उपदंश के घाव थे। मेरी को भय हुआ कि कहीं उसके पुत्र को भी यह रोग पकड़ न ले। पर मेरी की चिन्ता व्यर्थ थी क्योंकि जेम्स प्रथम जन्म से ही यह रोग ले आया था। इस प्रकार जेम्स प्रथम जो ईसाई दुनिया का सबसे बुद्धिमान मूर्ख था इस रोग को अपनी संतान को दे गया था और स्टुअर्ट वंश ही इस रोग से आक्रान्त बन गया। जब इंगलैंड और स्कॉटलैंड के राजवंश की यह हालत थी तब वहाँ के दरबारों और सामंतों की चर्चा ही

बेकार है। इंगलैंड के सभी कुलीन परिवार व्यापार करते थे। पूर्व के देशों से और अमरीका से उनका व्यापार चलता था और इस प्रकार उपदंश रोग उनके खून का साथी बन गया। जब यह रोग रुधिर में प्रवेश कर गया तब यह उनकी चेतना में घुसा और जब चेतना में घुसा तब उनकी प्राणवती कल्पना पर भी आघात करने लगा। उपदंश ने अंग्रेज जाति की प्राणवत्ता को मार डाला। चॉसर का इंगलैंड प्रेम के शारीरिक पक्ष से भागता नहीं था प्रत्युत उसमें खूब रस लेता था। शेक्सपियर का इंगलैंड इससे कतराने लग गया और शेली तथा कीट्स का इंगलैंड उससे बहुत दूर रहने में शोभा मानने लगा। फलस्वरूप ऐसे-ऐसे सिद्धान्त वाक्य गढ़े गए जो एक म्रियमाण सभ्यता के प्रतीक हैं—जैसे सौंदर्य फरेब है (Beauty is Snare) सुन्दर वह है जो सुन्दर आचरण करता है (Handsome is as handsome does) चेहरा देखकर निर्णय मत करो (Don t judge by appearances)। कहना न होगा कि ये सब अंधा सभ्यता के फरेब थे। इन सबने—इंगलैंड को मार दिया—जो बचा वह मुर्दा इंगलैंड था। एक मरी हुई सभ्यता—लॉरेन्स के शब्दों में हस्तमैथुन की सभ्यता।

लॉरेन्स इसी सभ्यता की प्रतिक्रिया में उत्पन्न हुआ था। लॉरेन्स की आवाज हस्तमैथुन की सभ्यता के विरोध में उठाई गई आवाज है। लॉरेन्स काम का भारी समर्थक है। उसका कहना है कि हम कितना भी कठोर और संयमी बनने का अभिनय क्यों न करें हममें से अधिकांश लोग सेक्स के सामान्य (Moderate) आचरण को पसन्द करते हैं। सेक्स हमें उष्णता प्रदान करता है किसी बदली के दिन में प्रकट होने वाली धूप की तरह उत्तेजित करता है हममें जिन्दगी की लहर दौड़ा देता है। मानव जीवन में सेक्स बड़ा ही शक्तिशाली लाभदायक और आवश्यक चीज है और हमें इसका कृतज्ञ होना चाहिए क्योंकि जब कभी किसी धूप की किरण की तरह इसके प्रवाह का हम अपने भीतर महसूस करते हैं, तब हम थोड़ा गरमा जाते हैं।[1] दिनकर की उर्वशी लगभग लॉरेन्स की ही भाषा में कहती है—

यह विद्युन्मय स्पर्श तिमिर है पाकर जिसे त्वचा की
नींद टूट जाती रोमों में दीपक बल उठते हैं?
यह आलिंगन अंधकार है जिसमें बँध जाने पर
हम प्रकाश के महा सिन्धु में उतराने लगते हैं?

---

1 A Propos 65

और कहोगे तिमिर-धूम उस धुम्मान को भी जिससे
जड़ता की आँधियाँ लिखित तन-मन की खुल जाती हैं ?"[1]

इश्क मजाजी इश्क हकीकी का सोपान है। प्रेम की शुरुआत भौतिकता में होती है और परिपाक अध्यात्म में।

लॉरेन्स का कहना है कि शायद ही कोई युग इतना अतिशय भावुक वास्तविक अनुभूति से रहित तथा छद्म अनुभूति से पूर्ण रहा हो जितना कि हमारा युग है। अतिशय भावुकता और छद्म अनुभूति एक प्रकार का खेल बन गए हैं जिसमें हर व्यक्ति अपने पड़ोसी को मात कर देना चाहता है। आज का आदमी छद्म अनुभूति में जीता है, छद्म अनुभूति के लिए जीता है। कुछ समय तक ऐसा लगता है कि समय अच्छा ही जा रहा है सब कुछ ठीक है और तब एकाएक सभी सम्बन्ध टूट जाते हैं। सारा व्यक्तित्व चकनाचूर हो जाता है। हम एक लम्बे अर्से तक अपनी अनुभूतियों के सम्बन्ध में ही अपने को धोखा दे सकते हैं, लेकिन यह सब दिन तक नहीं चल सकता है। अन्त में हमारा शरीर ही हमें ठोकर मारता है—बड़ी बेरहमी से और बिना किसी पश्चाताप के।[2]

लॉरेन्स छद्म भावना पर आक्रमण करता है। छद्म प्रेम के खिलाफ इसका आक्रमण भिन्न होता है। आज हम देखते हैं कि जो व्यक्ति किसी दूसरे से प्रेम करता है वही कल उसी से घोर से घृणा करने लग जाता है। यह अजीबो-गरीब चीज इसी नकली प्रेम की देन है। यह प्रेम ही झूठा है। घृणा तो उसी का स्वाभाविक परिणाम। यों यह चीज हर युग में रहती आई है, परन्तु इस युग में जितनी मात्रा में है उतनी कभी नहीं थी। जो आदमी दूसरे से प्रेम करता है बहुत दिनों तक प्रेम किये गया वही एकाएक देखता है कि सबसे प्रबल घृणा एकाएक आ गई। लारेन्स कहता है कि यदि यह घटना युवावस्था में नहीं हुई तो पचास के समीप घटती क्योंकि यह समय बड़े परिवर्तनों—यौन भावना के परिवर्तनों—का होता है। हमारे युग में—इससे अधिक विस्मयजनक और कोई बात नहीं है कि नर-नारी जो कभी एक दूसरे से प्रेम करते थे तीव्र घृणा करने लगते हैं। यह घृणा विभिन्न-विचित्र रूप से फूटती है।[3]

---

१ उर्वशी ४७

२ A' Propos, 95–5

३ Ibid 96–7

उर्वशी की भाव भूमि यही है। दिनकर ने हमारे युग की इस समस्या को बड़ी विचक्षणता से उपस्थित किया है। पुरुरवा औशीनरी से प्रेम करता है और औशीनरी ने सारा व्यक्तित्व पुरुरवा को समर्पित कर दिया है। पुरुरवा को कोई अभाव है इसका उसे तब तक पता भी नहीं था जब तक कि उसने उर्वशी को देखा नहीं। वह कहता है—

'एक मूर्ति में सिमट गयीं किस भाँति सिद्धियाँ सारी ?
कब था ज्ञात मुझे इतनी सुन्दर होती है नारी ?'[1]

उर्वशी वह नारी है जिसकी पुरुरवा को खोज थी। इस नारी के बिना उसका व्यक्तित्व अपूर्ण था—किन्तु, उसे इसका पता नहीं था। उर्वशी को देखकर उसे भान हुआ कि उसका जीवन अब तक सूना था। इस लिए उर्वशी को पाकर वह निहाल हो उठता है—

क्या उपचार करूं मैं ?
सुख की इस मादक तरंग को कहाँ समेट धरूं मैं ?
गहा चाहता सिन्धु प्राण का कौन अदृश्य किनारा ?
छूना चाहती हृदय को कौन रक्त की धारा ?
कौन सुरभि की विम्ब बेलि प्राणों में गमक उठी है ?
नयी तारिका कौन भाव मूर्धा पर चमक उठी है ?
किस पादप के मत्त-विकल दल उड़कर अनिल-लहर में
मन्द-मन्द तिर रहे आज प्राणों के मादक सर में ?[2]

दिनकर ने इसी पृष्ठभूमि पर इस प्रेम की प्रतिक्रिया में उत्पन्न तृषा की बड़ी अच्छी व्याख्या की है। जब से पुरुरवा का उर्वशी से मिलन हुआ तब से दिनकर ने कभी-कभी पुरुरवा-औशीनरी का मिलन नहीं दिखलाया है। अन्त तक भी वे नहीं मिलते हैं। यह दिनकर की अद्भुतपूर्व कलात्मक उप लब्धि है—हिन्दी कविता में सर्व-प्रथम। प्रेम के बिना देहम अकामी होना (है। देह की सारी सार्थकता प्रेम से है। शरीर और शरीर का मिलन प्रेम नहीं होता है। प्रेम में शरीर मन और आत्मा तीनों के धरातल पर नर नारी एकाकार होते हैं। औशीनरी से पुरुरवा को वह नहीं मिला था जो प्रेम देता है। इसलिए उर्वशी को देखकर उसे पाकर वह सब कुछ भूल जाता है।

---

१ उर्वशी २४
२ वही ३१

सतीत्व या नर-नारी सम्बन्ध की एकनिष्ठता प्रेम से उपजती है। लॉरेन्स की लेडी चैटरली भी जब वांछित पुरुष पा जाती है, तब कहती है — 'So I love chastity now because it is the peace that come of loving I love being chaste now I love it as snow-drops love the snow I love this chastity, which is the pause of peace of our loving, between us now like a snow drop of forked white fire. It is so good to be chaste like a river of cool water in my soul'[1] नर-नारी भटकते तब हैं जब वे कम प्रेम करते हैं, किन्तु उनका प्रेम छलना होता है। जो एक बार वास्तविक प्रेम का स्वाद पा लेता है वही भटकता नहीं है। पुरूरवा फिर कभी औशीनरी के पास जाता नहीं है उर्वशी के साथ जाने के बाद भी नहीं। हमारे युग की प्रणय भावना एक-प्रणय-भावना का इतना अच्छा भाष्य हमारी भाषा के किसी और कवि ने नहीं लिखा है।

लॉरेन्स ने 'दिमागी सेक्स' (Sex in head) की बड़ी निंदा की है। यह शब्द उसी का आविष्कार है। यह दोष उसने बुद्धिजीवियों में देखा है। उसने इसे समकालीन चिंतन और संस्कृति के नायकों कलाकारों तथा नेताओं का बमार (Bohemian) व्यापार कहा है। उसका कहना है कि सेक्स से जितना पीड़ित ये लोग हैं उतना समाज का और कोई भी वर्ग नहीं। उसका कहना है कि इन लोगों में सेक्स इनके मस्तिष्क में भी अधिक मानसिक है और उनके शरीर की भावुकता मूर्तों का गुमला में भी नहीं के बराबर है।[2] लॉरेन्स इस प्रवृत्ति को आत्मा के विरुद्ध किया गया पाप कहता है। ये लोग सेक्स के विषय में सोचते ही रहते हैं, वे ऐसा सोचते हैं कि सेक्स की तृप्ति करनी ही चाहिए क्योंकि वास्तविकता यह रहती है कि सेक्स उनमें रहता ही नहीं है। उनका सेक्स बनावटी होता है। ये लोग सेक्स की क्रिया में इसलिए प्रवृत्त होते हैं कि वे सोचते हैं कि उनसे ऐसा करने की अपेक्षा की जाती है। जबकि असलियत यह है कि यह मन है जो आसक्त होता है और शरीर को वह बलात् उत्तेजित करता है। लॉरेन्स कहता है कि हमारे पूर्वजों ने सेक्स के साथ इतना व्यभिचार किया है—बिना सोचे-समझे

---

१ Lady Chatterly's lover, 326

२ A Propos, 79

मा महसूस किए कि अब यह क्रिया यांत्रिक और भोथरी (dull) हो गई है। साहित्य में अश्लीलता तो तब आती है जब मन शरीर से डरता और घृणा करता है और शरीर मन से घृणा करता है और उसका प्रतिवाद करता है।[1] दिनकर भी उर्वशी में सभी अनर्थों की जड़ मन को ही बतलाते हैं। उर्वशी मुस्काकर कहती है "तन का काम अमृत, लेकिन यह मन का काम गरल है।[2] दिनकर ने हमारे युग में सेक्स की समस्या और यौन सम्बन्ध पर स्वयं विचार किया है। वे लिखते हैं "काम तन में तो रहता ही है, कभी-कभी उसका निवास मन में भी हो जाता है। तन का काम स्वाभाविक प्रवृत्ति किन्तु, मन का काम रोग है। यह भी कि तन के काम की आवश्यकता सीमित होती है किन्तु, मन का काम निस्सीम होता है। तन का काम अपनी आवश्यकता से आगे नहीं बढ़ता किन्तु मन का काम उसका अतिक्रमण *ही नहीं करता वह नकली आवश्यकताओं को जन्म देता है।*[3] यह बात वे उर्वशी में भी बड़े कवित्वपूर्ण ढंग से कहते हैं—

> 'तन का क्या अपराध यह वह तो सुकुमार प्रकृति का
> सीमित उसकी शक्ति और सीमित आवश्यकता है।
> यह तो मन ही है निवास जिसमें समस्त विषयों का
> वही व्यग्र व्याकुल असीम अपनी काल्पनिक क्षुधा से।
> हाँक-हाँक तन को उस जल को मलिन बना देता है,
> बिम्बित होती किरण पयोधर की जिस स्वच्छ-सलिल में
> जिस पवित्र जल में समाधि के सहचार मिलते हैं।[4]

दिनकर आगे लिखते हैं 'तन का काम वश में लाया जा सकता है किन्तु मन का काम काल्पनिक होने के कारण पकड़ में नहीं आता। असल *मतलब है कि भय की अपेक्षा भय की कल्पना* अधिक भयानक होती है। सेक्स भी शरीर के धरातल पर साध्य किन्तु दिमाग में घुस जाने पर असाध्य हो जाता है और समाज को देखिए कि शारीरिक प्रवृत्ति पर सख्त रोक लगाकर वह दिमागी सेक्स को कितनी उत्तेजना दे रहा है।[5]

१ Ibid, 89-90
२ उर्वशी, ८५
३ धर्म नैतिकता और विज्ञान १०
४ उर्वशी ८८
५. धर्म नैतिकता और विज्ञान १०—८

कहना न होगा कि यह भाषा लॉरेन्स की है। उर्वशी का कवित्व चिंतन की इसी कुक्षि से निकला है। यथा—

'मन जब हो आसक्त काम से सभ्य अनघ सुखों पर,
चिंतन में भी उन्हीं सुखों की स्मृति छाए फिरता है
विषम व्यग्र फिर फिर, मधु-भर में अवगाहन करने को
स्पृहाकृष्ट नहीं जो बसो से छन से तन से भी
तभी काम से बलात्कार के पाप जन्म लेते हैं,
तभी काम दुर्जय दानवी किल्बिष बन जाता है।'[1]

काम जब प्रकृति में संचालित हो तब वह स्वाभाविक है, अन्यथा वह भयंकर बन जाता है। ऐसी स्थिति में वह उन्मादी बन जाता है—Sex in head एलन वाट्स ने लिखा है इस प्रकार यौन अनुभूति की कामना मात्र है जबकि वह दिमाग पर हावी हो जबकि यह, एकदम एन्द्रिक और कल्पनिक लालसा हो जिसके प्रति शरीर की प्रतिक्रिया या तो अनिश्चित रूप से होती है या एकदम नहीं होती है। लॉरेन्स का कहना है कि आज लोग प्रेम करने के लिए प्रेम करते हैं। इस मनोवृत्ति ने प्रेम को दूषित कर दिया है। आज का आदमी यांत्रिक ढंग से प्रेम करता है। देह मिलती है, किन्तु आत्मा और मन हाहाकार करते रह जाते हैं। दिनकर झुँझलाकर लिखते हैं—

'काम-कृत्य वे सभी दुष्ट हैं, जिनके सम्पादन में
मन आत्माएँ नहीं मात्र दो बदन मिला करते हैं
या तन जहाँ विरुद्ध प्रकृति के विवश किया जाता है
सुख पाने को नहीं केवल मन की मिथ्या से
जहाँ नहीं मिलते नर-नारी उस सहजार्पण से
जैसे दो वीचियाँ अनामन्त्रित आ मिल जाती हैं,
पर सुगन्ध की आतुरता में धीरे-धीरे बढ़कर वे
एक दूसरे का आकुल सम्मान किया करते हैं।'[2]

---

१ उर्वशी ८४
२. उर्वशी ८४

कहीं-कहीं उर्वशी में कवि कुछ ऐसी बातें कह गया है जो उसकी मौलिक सूझ ही है, किन्तु लॉरेन्स के विचारों से उसकी समता है। यह समता ही है प्रभाव नहीं। लॉरेन्स मानता है कि सेक्स एक सर्जनात्मक शक्ति है। इसका सदुपयोग हो तो आदमी बहुत ऊँचा उठ सकता है, दुरुपयोग होने पर पशु से भी हीन बन सकता है।[१] यही बात दिनकर भी कहते हैं पर निश्चय ही यह लॉरेन्स का प्रभाव नहीं—

> 'काम धर्म काम ही पाप है काम किसी मानव को
> उच्च लोक से गिरा हीन पशु-जंतु बना देता है।
> और किसी मन में असीम सुषमा की तृषा जगाकर
> पहुँचा देता उसे किरण सेवित अति उच्च शिखर पर।[२]

इसी प्रकार दिनकर कई जगह लॉरेन्स की तरह ही बात कह गए हैं। लॉरेन्स इस बात को एकदम बर्दाश्त कर लेता है कि कला में सेक्स की अपील असीम होती है।[३] उर्वशी जो सेक्स के आकर्षण का केन्द्र है या चिरन्तन नारी का प्रतीक है, आत्म-परिचय देती हुई कहती है—

> 'मैं कला-चेतना का मधुमय प्रच्छन्न स्रोत
> रेखाओं में अंकित कर भंगी के उभार,
> भंगिमा तरंगित वल्लरता, वीचिमा लहर,
> तन की प्रकान्ति रगों में लिए उतरती हूँ।'[४]

लॉरेन्स ने लिखा है कि संसार की सारी महान कविताएँ, चित्र संगीत और कहानियाँ यौन-आकर्षण (Sex apeal) के कारण महान हैं।[५] उर्वशी के आत्म-परिचय में दिनकर भी इस सत्य का अनावरण करते हैं —

> 'भू नभ का सब संगीत नाद मेरे निस्सीम प्रणय का है,
> सारी कविता जयगान एक मेरी त्रयलोक विजय का है।[६]

---

१ A Propos 69
२ उर्वशी ८४
३ A Propos 65
४ उर्वशी ६७
५. A Propos 65
६ उर्वशी ६७

लॉरेन्स पत्र में लिख रहा था अत वह भावी रचनाओं की बात करता है। दिनकर, कविता की भाषा में बोल रहे हैं इसलिए 'अब संगीतनाद' और 'नारी कविता' कहते हैं। अनुभूतियाँ काल के गर्भ में पकती हैं और प्रत्येक साहित्यकार एक ही ढंग की बात सोच जाता है। ऐसा न होता तो जब भारत में तुलसीदास राम राज्य की कल्पना कर रहे थे उसी समय सर टॉमस मूर योरोप 'यूटोपिया' की कल्पना कैसे कर लेते ?

प्रेम में यौन समागम में, नर और नारी दोनों ओर से आदान प्रदान होता है। ऐसे क्षण में लॉरेन्स का कहना है कि कुछ नया हमारे व्यक्तित्व में प्रवेश करता है और कुछ पुराना चल बसता है। उसका कहना है कि यह सभी प्रकार के समागम में होता है, और तो और, समयौन सम्बन्ध में भी। नर से नारी को स्फूर्ति प्राप्त होती है और नारी से नर कुछ लेकर अपने को सींचता है। दिनकर भी इस कुछ के आदान-प्रदान को अच्छी तरह समझते हैं—

'यह प्रणाम उस मांसल रूप का जिसे विमुग्ध नयन से
प्रक्षेपित करता है प्रेमी-पुरुष प्रिया के मन में।
यौन ग्रहण यह उन अपार सोमाभासी बिम्बों का
जो नारी से निकल पुरुष के मन में समा रहे हैं।'[1]

जिसे दिनकर ने 'सोमाभासी बिम्ब' कहा है उसे लॉरेन्स ने (New-stimulus) कहा है। यह आदान प्रदान ही सेक्स की शक्ति है।[2]

हम कह चुके हैं कि लॉरेन्स बुद्धिवाद का विरोधी था। वह सभी वैज्ञानिकों को मूर्ख कहता था।[3] उसका यह मत अतिवाद की सीमा तक पहुँचा हुआ है। कवि कीट्स ने एक बार न्यूटन को अभिशाप दिया था क्योंकि उसने इन्द्र धनुष की व्याख्या करने का अपराध किया था। उसी प्रकार लॉरेन्स भी

---

१ उर्वशी ६४

२ हमारी राय में इन पंक्तियों की जो व्याख्या श्री कुमार विमल ने ज्ञानपीठ पत्रिका अक्टूबर १९६२ के अंक में फ्रायड सिद्धान्त के आधार पर की है वह गलत है। यों कुमार विमल का यह निबन्ध काफी अच्छा है।

३ Selected Letters II

अतिशय ज्ञान को तरजीह नहीं देता है क्योंकि इससे मनुष्य में विस्मय और कुतूहल की भावना घटती है और उसकी संवेदना भोथरी पड़ जाती है। ऐसा आदमी, स्वाभाविक है कि बुद्धि की तुलना में रक्त की पुकार को अधिक महत्व देगा। लॉरेन्स बड़ी आस्था से कहता है—"रुधिर में विश्वास ही मेरा सबसे बड़ा धर्म है। मांस बुद्धि की तुलना में अधिक चतुर होता है। हमलोग अपने मन में गलती कर सकते हैं। लेकिन रुधिर जो अनुभव करता है, जो विश्वास करता है, जो कहता है वह हमेशा सच ही होता है।"[1] दिनकर भी उतने ही विश्वास से कहते हैं—

"रक्त बुद्धि से अधिक बली है और अधिक ज्ञानी भी
क्योंकि बुद्धि सोचती और शोणित अनुभव करता है।
निरी बुद्धि की निर्मितियाँ निष्प्राण हुआ करती हैं
चित्र और प्रतिमा इनमें जो जीवन लहराता है,
वह सूझों से नहीं, पत्र-पाषाणों में पाया है
कलाकार के अन्तर के हिलकोरे हुए रुधिर से।"[2]

प्रेम की तरह विवाह के विषय में भी लॉरेन्स के अपने सुचिन्तित मत हैं। उसके अनुसार 'वह विवाह कोई विवाह नहीं है, जो रुधिर का आदान प्रदान (correspondence) नहीं है। क्योंकि आत्मा का सत्व रुधिर ही है, साथ ही गहरी चेतना का भी। यह रुधिर है जिसके कारण हमारा अस्तित्व सुरक्षित है और यह हृदय और यकृत है जिसके कारण हम जीते हैं घूमते-फिरते हैं यानी जिससे हमारा अस्तित्व बना हुआ है। यह तो रुधिर ही है जिसमें हमारा ज्ञान हमारी प्रकृति या अनुभूति सब एक और अविभाज्य है किसी सर्प या देव ने कोई दरार नहीं बनाई है इसलिए जब तक रुधिर का रुधिर से संयोग नहीं होता तब तक विवाह पूर्ण नहीं होता है। नर का रुधिर और नारी के रुधिर ये सदा से दो पृथक धाराएँ हैं, जो कभी मिलाए नहीं जा सकते। विज्ञान से भी हम यह जानते हैं। लेकिन इसीलिए वे ऐसी दो नदियाँ हैं जो हमारे समग्र जीवन को घेरे हुए हैं और व्याह में यह चक्र पूरा हो जाता है और सेक्स में ये दो नदियाँ एक दूसरे का

---

1 Ibid 10

२ उर्वशी ५६

स्पर्श कर तात्विक प्रदान करती हैं। हालांकि ये न तो एक दूसरे में विलीन होती हैं न एक दूसरे को भ्रमित करती हैं। हम यह जानते हैं। हमारा शिश्न रुधिर का एक स्तम्भ है जो नारी के रुधिर की घाटी का भर देता है। नर के रुधिर की महान नदी नारी के रुधिर की महान नदी का स्पर्श करती है पूरी गहराई तक तो भी कोई अपना किनारा नहीं तोड़ती है। सभी हम जानते हैं कि यह सबसे प्रगाढ़ सम्पर्क है।'[1] सम्भोग की विचित्रता का चित्रण करते हुए दिनकर कवित्व की गरिमा में रुधिर सिद्धांत का ही व्याख्यान करते हुए सब कुछ कह जाते हैं—

> श्रुति-पुट पर उत्तप्त श्वास का स्पर्श और अधरों पर
> रसना की गुदगुदी अवेलित सिर के मौलियाले में
> रस-माती भटकती उँगलियों का सचरण त्वचा पर,
> इस निगूढ़ कूजन का आशय बुद्धि समझ सकती है?
> उसे समझता रक्त एक कंपन जिसमें उठता है
> किसी दूब की फुनगी से चौंक छू जाने पर भी।[2]

यूरोप में चिंता की यह धारा फ्रांसीसी उपन्यासकार फ्लाबेयर से ही आ गई थी। उन्नीसवीं सदी में ही सैमुएल बटलर ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक The way of all flesh लिखी। फ्लाबेयर ने लिखा है 'सत्य ऐन्द्रियता और यथार्थ एक ही चीज है। हमें यदि कोई उपदेश पढ़ना है तो वह पाँचों इन्द्रियों का उपदेश ही है। कुछ ऐसी ही बात Transposed Heads नामक उपन्यास में टॉमस मान भी कहता है—यह संसार ऐसा नहीं है कि आत्मा केवल आत्मा को प्यार करे और सौंदर्य केवल सौंदर्य को। आत्मा सौंदर्य को पाना चाहती है और सौंदर्य भी आत्मा की ओर उठना चाहता है। प्रसिद्ध दार्शनिक और कथाकार सार्त्र Intimacy नामक कहानी में लिखता है—'रक्त हमें बहाकर ले जाता है, यही तो जीवन है। हम न तो निर्णय करते हैं, न समझ सकते हैं बस अपने को केवल बहने के लिए छोड़ दे सकते हैं। सच तो यह है कि हमारे युग में बुद्धि के गौरव और वन्ध्या दर्शन और समबुद्धि के उग्र और प्रेरक दर्शन में संघर्ष छिड़ा हुआ

---

१ A propos 112
२ उर्वशी ५०

है। वे सभी चिंतक यह विश्वास करते हैं कि वह आदमी मूर्ख है जो अपने उष्ण हृदय की पुकार की अवहेलना कर ठंडे दिमाग की बात सुनता है। हमारे युग की भाषा रक्त की भाषा है और उसी की पुकार हमें सुननी चाहिए। रक्त की भाषा विश्वास की भाषा होती है और विश्वास की भाषा हमें भरमाती नहीं है। दिनकर कहते हैं—

'पढ़ो रक्त की भाषा को विश्वास करो इस लिपि का
यह भाषा यह लिपि मानस को कभी न भरमायेगी
छली बुद्धि की भांति जिसे सुख दुख स भरे भुवन में
पाप दीखता वहीं जहाँ सुन्दरता हुलस रही है,
और पुण्य वह वहाँ जहाँ कंकाल कुत्सित, कांटे हैं।'[1]

यह ध्यान रखने की बात है कि बुद्धिवाद के प्रति यह रुख दिनकर ने लॉरेन्स आदि का पढ़कर नहीं पाया है। कुरुक्षेत्र में ही यह दृष्टिकोण बड़ा साफ उतरा है और इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि उस समय उन्होंने लॉरेन्स पढ़ा था। हाँ, इतना अवश्य हुआ है कि लॉरेन्स की धारा भी उनकी अपनी धारा से उर्वशी में आकर संगम पा सकी है।

उर्वशी का रचयिता अपने दश की नई नैतिकता का बड़ा प्रशंसक है। उसने यह प्रयास किया है कि काम को धर्म का बाधक समझने का भ्रम दूर हो जाए। यह प्रयास हमारे युग में छोटे-बड़े अनेक कवियों ने किया है, परन्तु, जितने बड़े पैमाने पर हिन्दी कविता में यह काम दिनकर ने किया है उतने बड़े पैमाने पर किसी और कवि ने नहीं किया है। लॉरेन्स की ही तरह कदाचित् उनका भी यही लक्ष्य है कि लोग सेक्स के विषय में स्पष्टता और ईमानदारी से सोचें। दिनकर का यदि यह प्रयास सफल हुआ तो अपने देश में, कम से कम हिन्दी भाषी क्षेत्र में वे नई नैतिकता के नेता मान लिए जाएँगे।

रसल का प्रभाव

रसल के प्रेम और नैतिकता सम्बन्धी विचार उनकी पुस्तक 'विवाह और नैतिकता (Marriage & Morals) में संगृहीत हैं। रसल नास्तिक और बुद्धिवादी चिंतक हैं तथा पुरानी नैतिकता के वे कट्टर विरोधी हैं।

---

[1] उर्वशी, ६१

आधुनिक युग में यौन सम्बन्धों की समस्या पर उन्होंने विस्तार से विचार किया है। दिनकर ने रसल को पढ़ा है और रसल के अनेक विचार उनके अपने विचार बन गए हैं। इस समस्या पर दिनकर ने जो चिंतन और मनन किया है वह उनकी पुस्तक 'काम, नैतिकता और विवाह' में संगृहीत है। दिनकर के अपने विचारों पर अनेक जगह रसल की छाया मिलती है।

रसल का कहना है कि वे सभ्य मनुष्य जिन्हें किसी प्रकार का निषेध (Inhibition) नहीं रहता है सामान्यतया एक नारी से संतुष्ट नहीं होते हैं। वे किसी एक व्यक्ति से प्रेम में उन्मत्त रहते हैं और कुछ वर्षों तक गहरे प्रेम में डूबे भी रह सकते हैं पर कुछ दिनों के बाद वे यह महसूस करने लगते हैं कि यौन-परिचय उनकी वासना को शिथिल बना डालता है और तब वे पुरानी ताजगी की प्राप्ति के लिए दूसरी हरियाली की ओर आँख उठाते हैं। रसल का कहना है कि नैतिकता का अधिक ध्यान रखने वाले लोग इस प्रवृत्ति पर नियन्त्रण पा लेते हैं, परन्तु, इस प्रवृत्ति के अस्तित्व से इन्कार नहीं किया जा सकता है। हर पुरुष में यह प्रवृत्ति बड़ी उत्कटता से रहती है।"[1]

रसल का कहना है कि रूमानी प्रेम की मुख्य बात यह है कि प्रिय वस्तु की प्राप्ति अत्यन्त कठिन हो पर प्रिय वस्तु अत्यन्त मूल्यवान हो। ऐसी स्थिति में प्रेमी को प्रेमिका को पाने में बड़े प्रयत्न करने पड़ते हैं कविता से, गीत से, युद्ध-कौशल से, या अन्य किसी भी तरीके से जिससे कि प्रेमिका रीझ सकती है। जिस नारी को पाने में कठिनाई होती है रसल के अनुसार उसका मनोवैज्ञानिक मूल्य बढ़ जाता है। दूसरे शब्दों में जिस नारी को पाने में नर को कोई कठिनाई नहीं झेलनी पड़ती है वह प्रेम रूमानी प्रेम नहीं बन सकता है।[2] दिनकर भी कदाचित् यह मानते हैं कि प्रेम दूरी एवं अपरिचय का रोमांस चाहता है—

'कौन कहे? यह प्रेम हृदय की बहुत बड़ी उलझन है।
जो अलभ्य, जो दूर, उसी को अधिक चाहता मन है।

रसल ने जो पुरुष में दक्षिण नायकत्व का विश्लेषण किया है, कुछ उसी भाषा में उर्वशी कहती है—

---

१ Marriage & Morals 112
२ Marriage & Morals 56
३ उर्वशी, ३१।

'उस पर भी नर में प्रवृत्ति है क्षण-क्षण अकुलाने की
नयी-नयी प्रतिमाओं का नित नया प्यार पाने की,
वश में आई हुई वस्तु से इसको तोष नहीं है
जीत लिया जिसको उससे आगे संतोष नहीं है।'[1]

उर्वशी में दिनकर पुरुष प्रकृति का बड़ा ही स्वच्छ विश्लेषण उपस्थित करते हैं। पुरुष क्षण में विचरता है। वह एक स्थान पर ठहरने वाला प्राणी नहीं होता है—

कर स्पर्श से दूर स्वप्न मलमल नर को भाता है।
छूकर जिसको पी न सका वह उस नर का भाता है।
सीमा में झूलते कुसुम पर प्रीति नहीं जगती है
जो पद पर चढ़ गई चाँदनी फीकी वह लगती है।[2]

यह प्रश्न बेकार है कि पुरुष की यह प्रवृत्ति अच्छी है या बुरी। यह प्रकृति है इसे बदला नहीं जा सकता है। तब वह क्या उपाय है जिससे दाम्पत्य को सुखी या सफल बनाया जा सकता है? रसल का "इसका भी नुस्खा मालूम है। नारी को चाहिये कि वह पुरुष को एकबारगी पूर्ण समर्पण कभी न करे। अपने पति से कुछ दूरी उसे बनाए रखनी चाहिए यानी नारी को विवाह के बाद भी एक आवरण में प्रच्छन्न रहना चाहिये। रसल ने कहा है कि नारी को विवाह के बाद भी सम्भवतः गोपनीयता (Sphinx like Secrecy) अपने आंतरिक विचारों और भावनाओं में बरतना चाहिए कुछ दूर तक शारीरिक गोपनीयता भी।[3] वैवाहिक जीवन की सफलता के लिए यह एक आवश्यक शर्त है नहीं तो पुरुष नई हरियाली की ओर आँख उठाने लग जाता है। मदनिका औशीनरी को इसी कला का संकेत देती है—

भाग-भाग झपटे दूर छिपे फिर-फिर जो चुम्बन लेकर
ले समेट जो निज को प्रिय के क्षणिक अंक में देकर
जो सपने के साथ बाहु में उड़ी-उड़ी आती हो
और लहर सी लौट तिमिर में डूब-डूब जाती हो,

---

१ उर्वशी ४५।
२ वही ४५।
३ Marriage & Morals ६४।

प्रियतम को रख सके निमज्जित जो अनुप्ति के रस में,
पुरुष बड़े सुख से रहता है उस प्रमदा के बस में।"[1]

'लहर सी लौट तिमिर में डूब डूब जाती हो' की व्यंजना अपूर्व है। जैसे अंधकार से उठने वाली लहर अन्धकार में ही डूब जाती है उसी प्रकार नारी का अंधकार में ही पुरुष की ओर उन्मुख होना चाहिये और पुनः अन्धकार में ही अपने को समेट लेना चाहिये। प्रकाश में पुरुष का रोमान्स समाप्त हो जाता है। यह ध्यान रखने की बात है कि रोमांटिक प्रेम में प्रिय वस्तु यथावत् नहीं दिखलाई पड़ती है, वह एक इन्द्रधनुषी धूंधलका से माध्यम दिखलाई पड़ती है।[2] उसी रोमांटिक प्रेम से चालित होकर पुरुरवा कहता है—

'सत्य ही रहता नहीं यह ज्ञान
तुम कविता कुसुम या कामिनी हो।'[3]

उर्वशी में दिनकर का संदेश यह है कि यौन-समागम के क्षणों में नर नारी में डूब जाता है और नारी नर में डूब जाती है। इस यौन-समागम की तन्मयता से नर और नारी दोनों का एक तरह से पुनर्जन्म होता है। सेक्स अपने आप में महत्त्वपूर्ण नहीं है। उसकी सार्थकता प्रेम से सिद्ध होती है। जीवन में जब थकान और क्लान्ति व्यापती है तब प्रेम ही इससे मनुष्य को मोक्ष दिलाता है। सेक्स शारीरिक मिलन है किन्तु, सभी शारीरिक मिलन प्रेम नहीं होता है। उर्वशी का कवि जब निष्काम काम सुख की बात करता है तब उसका संदेह यह नहीं है कि सन्तान अनावश्यक है। ठीक इसके विपरीत सन्तान सुख का चित्रण उसने बड़ी स्वच्छता से किया है। मातृत्व की चरम सफलता में ही वह नारीत्व की पूर्णता मानता है। परन्तु काम के मूल को वह इस अर्थ में सन्तान उत्पन्न करने का लक्ष्य नहीं मानता कि प्रेम के बिना भी तो सन्तान उत्पन्न हो जाती है। संतान यौन-समागम का परिणाम है, किन्तु यौन-समागम का चरम लक्ष्य नर-नारी का शरीर, मन और आत्मा के धरातल पर एकाकार होना ही है। निष्काम की यही मौलिक व्याख्या हो सकती है। बिना प्रेम के भी गम स्थापित हो सकता है,

१ उर्वशी ३१।
२ Marriage & Morals, ६४।
३ उर्वशी ३१।

जैसा कि बलात्कार में होता है। अत: गर्भाधान काम सुख का लक्ष्य नहीं है, वह एक परिणाम मात्र है।

> और पुत्र कामना कहो तो यद्यपि वह सुखकर है
> पर, निष्काम काम का ध्रुवमुख वह भी ध्येय नहीं है।
> निरुद्देश्य निष्काम काम-सुख की अचेत धारा में
> सदा तैरते अज्ञात लोक से आकर खिल जाती हैं
> वारि-वल्लरी में फूलों सी निराकार के गृह से
> स्वयं निकल पड़ने वाली जीवन की प्रतिमाओं सी।[१]

उर्वशीकार भी वस्तुत लारेन्स की ही तरह नर-नारी समागम में मोक्ष की कल्पना करता है।

उर्वशी प्रेम की अतीन्द्रियता का आख्यान है। इसी अर्थ में यह कामाध्यात्म की कविता है। यह प्रेम केवल शारीरिक मिलन नहीं है। यह शरीर धर्म के आगे के क्षितिज को भी छूता है।

१　उर्वशी ८६।

शिल्प योजना

उर्वशी का मूल प्रतिपाद्य काव्यात्मक है। किन्तु कवि ने इसे काव्य-नाटक (Verse-drama) का रूप दिया है।

काव्य-नाटक में कविता अलंकरण मात्र नहीं होती है। सच तो यह है काव्य-नाटक में यदि कविता केवल सजावट हो बाहर से आरोपित हो कविता सुनकर केवल कविता सुनने जैसा ही आनन्द प्राप्त हो तो वह कविता अनावश्यक है। यहाँ तो कविता को अपनी अनिवार्यता नाटकीय धरातल पर सिद्ध करनी ही पड़ती है।[1] नाटकीय प्रेम में कविता फिट कर देना और बात है और कविता का नाटकीय औचित्य से युक्त होना और बात है। नाटकीय कविता (Dramatic Poetry) न तो नाटक के कार्य-व्यापार में बाधा डालती है और न उसे शिथिल बनाती है। कविता जब सचमुच नाटकीय होती है तो नाटक की तीव्रता और भी प्रखर हो जाती है। ऐसी कविता बाहरी सजावट और रंगीनी नहीं होती वह तो नाटकीय स्थिति की विकलता से उत्पन्न भाषा का ऐसी आवश्यक गठन होती है जहाँ केवल मन गद्य और पद्य के पार्थक्य को परख नहीं पाता है। काव्य-नाटक में कविता जब इस ऊँचाई पर पहुँचती है तब इतनी समर्थ हो जाती है कि यथार्थ जीवन के सूक्ष्म तथ्य भी उसके द्वारा बड़ी कलात्मकता से व्यक्त होते हैं। शेक्सपियर के नाटकीय शिल्प की महिमा इस बात में है कि कविता के माध्यम से उसने ऐसे तथ्यों को भी व्यक्त किया जो सामान्यतया कविता के विषय नहीं समझे जाते हैं। शेक्सपियर ने काव्यात्मक नाटक न लिखकर नाटकीय कविता ही लिखी और इतनी सफलता से लिखी कि पद्य में लिखे गए इब्सन और शॉ के श्रेष्ठतम नाटक भी लगता है कि केवल इसीलिए लिखे गए कि शेक्सपियर की महिमा वे लोग भी समझ सकें जिन्हें समझने में कठिनाई होती है।

---

१ Selected prose, 68

शेक्सपियर जब अपने किसी नाटक में किसी काव्यात्मक पंक्ति या अनुच्छेद का समावेश करता है तो इससे न तो कार्य-व्यापार में बाधा होती है। और न वह पंक्ति या अनुच्छेद चरित्र-निरपेक्ष होते हैं। ठीक इसके विपरीत उससे कार्य-व्यापार और चरित्र दोनों को बल मिलता है। जब कि मैकबेथ इस बहुउद्धृत वाक्यांश का प्रयोग करता है —

To-morrow and to-morrow and to-morrow,

या जब कि रात में अपने वृद्ध श्वसुर और मित्रों के सामने ओथेलो यह स्मरणीय पंक्ति कहता है—

Keep up your bright swords for the due will rust them,

हम यह नहीं महसूस करते कि शेक्सपियर सुन्दर कविता में सोचता है तब उसे किसी तरह नाटक में फिट करता है अथवा ऐसा भी नहीं लगता कि उसकी नाटकीय प्रेरणा समाप्त हो गई है और वह भरती के लिए कविता की ओर गया है। ये पंक्तियाँ विस्मयजनक हैं, साथ ही चरित्र के साथ उनका मेल बैठता है। मैकबेथ द्वारा कही गई पंक्ति एक ऐसे दुर्बल व्यक्ति की चिंता व्यक्त करती है जो अपनी पत्नी द्वारा अपनी अस्पष्ट कामना तथा पत्नी की महत्त्वकांक्षा को पूरा करने के लिए विवश किया गया हो और जो अपनी पत्नी के मरने के बाद विभ्रम में पड़ गया है। ओथेलो की पंक्ति में एक साथ ही व्यंग्य स्वाभिमान और निर्भीकता है साथ ही सामाजिकों को यह पता चल जाता है कि यह दृश्य रात का है। यह विलक्षण उपलब्धि कविता की ही हो सकती है। पर यह नाटकीय कविता है जो नाटकीय स्थिति को तीव्रतम बना देती है।[1]

उर्वशी में कई जगह नाटकीय कविता का सफल प्रयोग कवि ने किया है, किन्तु, अधिकांश स्थल कविता के विभास मात्र हैं। नाटक और काव्य की परस्पर स्पर्धा काव्य-नाटक की आत्मा है। कविता नाटकीय होती है और नाटक काव्यात्मक होता है। स्थिति ऐसी आती है कि अपनी अभिव्यक्ति में नाटक कलात्मक बन जाता है। उर्वशी में यह नाटकीय कविता अधिक नहीं है। कहीं-कहीं कवि ने वह विलक्षणता दिखलाई है जिससे काव्य नाटक चमक उठता है यथा प्रथम अंक के प्रारम्भ में ही सूत्रधार कहता है—

---

१ Ibid 81

'सारी देह समेट निबिड़ आलिंगन में भरने को
गगन खोलकर बाँह विसुध वसुधा पर झुका हुआ है।'[1]

इन पंक्तियों में गगन का बाँह खोलकर वसुधा पर झुकना पुरूरवा की की आगामी प्रणय-लीला को पूर्वाभासित करता है। रंगमंच पर इसका प्रदर्शन बड़ा प्रभावशाली रहेगा। यह पंक्ति कहते हुए सूत्रधार वसंत की कुसुम-विभा में नटी की ओर झुकेगा। उर्वशी का सारा कथ्य इसी से स्पष्ट हो जायगा। यह कविता है किन्तु नाटकीय कविता। इसी प्रकार प्रथम अंक में जब अप्सराओं का वार्तालाप चल रहा है तब सहजन्या मेनका से कहती है—

'साधु! साधु! मेनके! तुम्हारा भी मन कहीं फँसा है?
मिट्टी का मोहन कोई अन्तर में आन बसा है?
तुम भी हो बन गई महीतल पर रूपसी किसी की?
किन्हीं मर्त्य नयनों की रस-प्रतिमा उर्वशी किसी की?'[2]

अंतिम पंक्ति में 'उर्वशी किसी की' कह देने से शिथिल कथानक को एक झटका लगता है और वह आगे बढ़ता है। सहजन्या के इसी कथन से रम्भा उर्वशी की चर्चा करती है और कथानक आगे बढ़ता है—

अरी ठीक तुम सहजन्ये! अच्छी याद दिलाई।
आज हमारे साथ यहाँ उर्वशी नहीं क्यों आई?[3]

इसी प्रकार तृतीय अंक के अंत में नाटकीय कविता का एक उत्कृष्ट उदाहरण बन पड़ा है। उर्वशी कहती है—

'हिम-स्नात सिक्त वल्लरी-पुजारिन को देखो
पति को पुष्पों का नया हार पहनाती है,
फूलों में जगता है कम कोई द्रुम कहीं
वन की प्रसन्न विहगावलि सोहर गाती है।'[4]

---

१ उर्वशी ५
२ वही ११
३ वही ११
४ वही, १०२

उर्वशी के इस कथन से प्रथम अंक में आयु के जन्म की सूचना मिलती ही है, रात बीत जाने का भी पता लगता है। फिर यहाँ कविता भी बड़ी स्वच्छ है—

किन्तु, इन सभी उदाहरणों की तुलना में पंचम अंक में पुरुरवा के स्वप्न की योजना सबसे अधिक नाटकीय है और वह सम्पूर्ण प्रसंग नाटकीय कविता का उत्कृष्ट उदाहरण है। इस प्रकार के स्वप्न की योजना कोई आधुनिक युग का कवि ही कर सकता है। कामायनी में भी प्रसाद ने स्वप्न की योजना की है, किन्तु प्रसाद का सपना एक दर्पण है जिसमें आगामी घटना की प्रतिच्छाया दीख पड़ती है।

> 'श्रद्धा का था स्वप्न किन्तु वह सत्य बना था
> बड़ा संकुचित उधर प्रजा में क्षोभ बना था।'[1]

परन्तु पुरुरवा का सारा स्वप्न प्रतीकात्मक है। प्रतिष्ठानपुर के निवासियों का एक नया वट-पादप ले आना और उसे रोपना आयु के राज्यारोहण का प्रतीक है। पुनः पुरुरवा भी क्षीर-घट लाकर दूध से उस नवीन विरवे को सींचना चाहता है। यह पुरुरवा के वात्सल्य प्रेम का प्रतीक है। किसी नागरिक की पुरुरवा की ओर दृष्टि नहीं है। वह एक गरिष्ठ कुंजर पर चढ़कर प्रतिष्ठानपुर से बाहर एक कानन में पहुँच गया है और वहाँ पहुँचने पर वह कुंजर भी उसे छोड़कर चला जाता है। यह पुरुरवा के आगामी संन्यास का प्रतीक है। अवश्य ही यह स्वप्न-योजना कामायनी की स्वप्न योजना की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली है। पुरुरवा जब यह कहता है—

> 'एकाकी निःसंग भटकता हुआ विपिन निर्जन में
> जा पहुँचा मैं वहाँ जहाँ पर बहुमरा बहती है
> च्यवनाश्रम के पास प्रलोमा की हतभागु धारा सी।'[2]

तब उर्वशी घबड़ाकर कहती है—

> 'च्यवनाश्रम ! हा ! हन्त ! अघाते
> मुझे घूंट भर जल है।'[3]

---

१ कामायनी ११ ।
२ उर्वशी ११६ ।
३ वही ११६ ।

वह सब कथन बड़ा नाटकीय बन पड़ा है । पुनः आगे पुरूरवा कहता है—

देखा जिधर उधर डाली टहनियों वृन्तों पर
देवि ! आपका यही कुसुम आनन झलमला रहा था
हँसता हुआ प्रफुल्ल सत्य ही मानो स्फुरित कमल-सा ।
किन्तु, हाय ! दुर्भाग्य जिधर भी बढ़ा स्पर्श करने को
डूब गया वह छवी पुष्प पत्रों की हरियाली में ।"[1]

यह अत्यन्त ही काव्यात्मक वर्णन है किन्तु साथ ही नाटकीय भी । पुरूरवा के इस कथन 'डूब गया वह छवी पुष्प पत्रों की हरियाली में' में उर्वशी के भावी विछुड़न का स्पष्ट आभास है । इसके बाद पुरूरवा कहता है—

'चकित भीत विस्मित अधीर तब मैं निरभ्र आशा से
अकस्मात उड़ गया छोड़ अवनीतल उच्च गगन में
और तरसता रहा न जाने कब तक बाद भ्रमर सा ।
जगा अन्त को जब विभावरी पूरी बीत चुकी थी ।[2]

उर्वशी में यह नाटकीय कविता का प्रयत्न है । 'अकस्मात उड़ गया छोड़ अवनीतल उच्च गगन में' पुरूरवा की आध्यात्मिक उड़ान का प्रतीक है और अन्त में 'जगा, अन्त को जब विभावरी पूरी बीत चुकी थी' प्रतीक-व्यंजना का चमत्कार है । यह पुरूरवा के अज्ञान के नाश और ज्ञान के प्रकाश में पहुँच जाने का प्रतीक है ।

किन्तु उर्वशी में नाटकीय कविता के ऊपर दिये गए उदाहरण गिन चुनकर ही दिए गये हैं । उर्वशी के अधिकांश स्थल शुद्ध कविता के उदाहरण हैं जो नाटक की मूल धारा से विच्छिन्न से लगते हैं । प्रथम अंक में अप्सराओं का वार्तालाप और पूरे का पूरा तृतीय अंक अच्छी कविता के उदाहरण हैं, किन्तु, उन्हें नाटकीय किसी भी तरह से नहीं कहा जा सकता । उर्वशी की शिल्प-योजना काव्यात्मक है, नाटकीय नहीं है ।

काव्य-नाटक की भाषा गद्यात्मक नहीं होती है, किन्तु, उसका आधार सामान्य बोलचाल की भाषा ही होती है । हम रंगमंच पर चाहे गद्य का प्रयोग करें चाहे पद्य का किन्तु वे अपने आप में साधन मात्र हैं । गद्य और

---

१ उर्वशी ११७ ।
२ वही ११७ ।

पद्य की भाषा में जो साफ अंतर हम देखते हैं वह ऐसा नहीं है जैसा हम समझते हैं। हमारी यह धारणा बन गई है कि गद्य की तुलना में पद्य की भाषा कृत्रिम होती है और सामान्य बोल-चाल की भाषा से अधिक दूर होती है। यह कथन अत्यन्त संकीर्ण अर्थ में ही ठीक है। समकालीन गद्य की भाषा बोलचाल की भाषा से अधिक निकट हो सकती है किन्तु बाद वाली पीढ़ी के लिए वह भी उतनी ही कृत्रिम होगी जितनी कि पद्य की भाषा हो सकती है। बनार्ड शॉ के नाटक अपने युग के लिए बोल-चाल की भाषा के निकट हैं, किन्तु, बाद वाली शताब्दी में वह भाषा भी बनावटी ही लगेगी। गद्य की भाषा भी बाद की पीढ़ी में पद्य की ही भाषा की तरह शब्दकोश और बोलचाल की लय से उतनी ही दूर चली जाती है। इसलिए, जैसा कि एलियट ने कहा है, रंगमंच पर गद्य भी उतना ही कृत्रिम होता है जितना कि पद्य। अथवा यों कहा जा सकता है कि पद्य भी गद्य की ही तरह नैसर्गिक हो सकता है।[1]

दर्शकों पर नाटक और उसकी भाषा का अलग-अलग प्रभाव नहीं पड़ना चाहिए। प्रसाद के नाटकों की भाषा का यह दोष नहीं है कि वह काव्यात्मक है बल्कि यह कि वह भाषा नाटक के समग्र प्रभाव से भिन्न असर डालती है। प्रसाद के नाटकों की भाषा अपने समय की बोलचाल की भाषा से एकदम भिन्न है। वह भाषा बनावटी है। इसलिए सामाजिक पर उसका जो प्रभाव पड़ता है वह चौंकाने वाला प्रभाव है। भाषा एक माध्यम है उसका प्रभाव प्रत्यक्ष नहीं होना चाहिए। इसीलिए प्रसाद के नाटक और कुछ नहीं तो भाषा की दृष्टि से भी कलात्मक स्तर पर असफल हैं। *उर्वशी* में भाषा नैसर्गिक नहीं है। अधिकांश स्थलों पर छंदों की जकड़बंदी मन खिन्न कर देती है। भाषा कवि ने पुस्तक से ली है जीवन से कम। *उर्वशी* में दो ही स्थलों पर भाषा का सहज रूप दिखलाई पड़ता है—एक पृष्ठ ४८ से प्रारम्भ होने वाले पुरुरवा के वक्तव्य में और दूसरा ८४ पृष्ठ से प्रारम्भ होने वाले उर्वशी के पत्र में। और ये दो स्थल भाषा की दृष्टि से इतने सहज इतने सफल इतने प्रभावशाली हैं कि इन्हें हम आधुनिक काव्य के श्रेष्ठतम उदाहरणों के रूप में उपस्थित कर सकते हैं।

इन दो जगहों पर भाषा का कवित्व बनावटी नहीं है। कवि यहाँ सहज

---

1 Selected Prose 69

ही परम्परा मुक्त छन्दों की कारा से निकल कर स्वच्छन्द छन्द की भूमि में विचरण कर सका है। आज के मनुष्य के खंडित प्रक्षिप्त और टूटे हुए मन को बांधने के लिए यांत्रिक छंद नहीं चाहिए। टूटे हुए मन को बांधने के लिए टूटा हुआ छंद चाहिए। सतत् वर्धनशील ब्रह्मांड पुराने छन्दों की सीमित यति-गति में नहीं बाँधा जा सकता। राष्ट्र में जब नई चेतना का प्लावन आता है तब मुक्त छन्द की पताका स्वयं ऊँची होती है। काल-देवता के गर्भ से छन्द भी जनमता है। अमरीका में जब नए राष्ट्र का उदय हुआ तब वाल्ट ह्विटमैन आए। उनके छन्दों की स्वच्छंदता में वस्तुतः नए राष्ट्र की स्वच्छंद चेतना थी। हमारे देश में भी इस शताब्दी में जब नया राष्ट्र जनमने लगा तब निराला के छन्दों में स्वच्छंदता आई। उर्वशी में जो स्थलों पर छन्दों की स्वच्छंदता अनुभूति की तीव्रता का प्रमाण है। और यहाँ पर कवि अनम्य कलात्मकता के बावजूद बोल चाल की भाषा से बहुत दूर नहीं है। 'कौन है अंकुश इसे मैं भी नहीं पहचानता हूँ' पंक्ति गद्य में भी लगभग इसी तरह कही जाती। इस अधिक से अधिक बालिंग पद्य बलाम के लिए 'कौन अंकुश है इस तरह लिखा या कहा जा सकता है। 'भाग है कोई नहीं जो पाप होती' को गद्य बनाने के लिए 'कोई भाग है जो पाप नहीं होती' में किंचित परिवर्तन ही पर्याप्त है। इस चन्द्रमा को हाथ से धर कर निचोड़ा एकदम साबित गद्य है। यही गद्य और कविता के बीच का वास प्रतिमान है जिसे एलियट ने साहित्य की प्राण-वत्ता के लिए अनिवार्य बतलाया है। किन्तु, यही स्वर उर्वशी में सब जगह नहीं है। यदि दिनकर इन दो स्थलों की तरह उर्वशी में कवित्व का स्वर सब जगह एक समान रख पाते तो निश्चय ही वह एक ऐसी कृति बन पाती जिसे पाकर कोई भी भाषा निहाल हो उठती।

उर्वशी की तुलना में 'अंधायुग' का पद्य-कौशल अद्भुत है। 'अंधा युग' की तुलना में उर्वशी का पद्य-नाटक वाला रूप आरोपित सा लगता है। अंधा युग' में कविता हर जगह गद्य से उठी है। कई जगह वह गद्यवत् लगती है किन्तु गद्य है नहीं। 'अंधायुग' में भारती का स्वर आत्मीय है। यह भाषा हमें बहुत परिचित सी लगती है यथा—

प्रहरी १ अंधे राजा की प्रजा कहाँ तक देखे ?
दीख नहीं पड़ता कुछ
हाँ शायद बादल है

प्रहरी २ 'बादल नहीं हैं
ये गिद्ध हैं
लाखों करोड़ों पाँखें खोले'[1]

× × ×

प्रहरी १ 'झुक जाओ झुक जाओ
ढालों के नीचे छिप जाओ
नर भक्षी हैं ये गिद्ध भूखे हैं।'[2]

भारती ने समग्र अंधायुग में गद्य की भाषा को ही कविता के धरातल पर ऊर्ध्वपातित किया है। ठीक इसके विपरीत उर्वशी में दिनकर की भाषा बनावटी है, पुस्तकीय है। 'अंधा-युग' में धर्मवीर भारती का शिल्प बहुत सधा हुआ है। उसका एक भी छंद एक भी कोरस निष्प्रयोजन नहीं है। उदाहरण के लिए उर्वशी और 'अंधायुग' के कोरस की तुलना की जा सकती है। उर्वशी के प्रथम अंक में अप्सराओं के दो समवेत गान हैं। समग्र कथा के विकास में उनका प्रयोजन कुछ भी नहीं है। किन्तु, 'अंधा-युग' में भारती ने जो कई जगह कथा-गायन की योजना की है वे समग्र कथानक के अनिवार्य अंग हैं। प्रथम अंक का प्रारम्भिक कथा-गायन हमें कथा की पृष्ठभूमि से परिचय कराता है—

'यह महायुद्ध के अंतिम दिन की संध्या
है छायी चारों ओर उदासी गहरी
कौरव के महलों का सूना गलियारा
हैं घूम रहे केवल दो बूढ़े प्रहरी'[3]

यह कथा-गायन न केवल कथा वस्तु से हमारा परिचय ही कराता है बल्कि वातावरण की मार्मिकता को तीव्र भी बना देता है। दिनकर का शिल्प कथानक की इतनी अनिवार्यता उत्पन्न नहीं है। कथोपकथन नाटक की कसौटी है। श्रेष्ठ नाटककार स्वाभाविक कथोपकथन लिखता है। नाटक साहित्य की सभी विधाओं की तुलना में सबसे यथार्थवादी कला है।

---

१ अंधायुग १४
२ वही १४
३ वही, १२

रंगमंच पर ऐसा कुछ ठहर ही नहीं सकता जो अद्भुत बनावटी है। लम्बे व्याख्यान नाटक के विषय नहीं हो सकते। कथोपकथन में चुस्तता आवश्यक है। 'अंधा-युग' के कथोपकथन बड़े सहज हैं। उनकी सफलता का एक रहस्य यह भी है। दिनकर को कथोपकथन लिखने का शऊर नहीं है। इस दोष ने उनकी कृतियों के कलात्मक स्तर को क्षति-ग्रस्त किया है। 'कुरुक्षेत्र' में वे इसी व्याधि से ग्रस्त हैं। इसी दोष को उर्वशी ने असहनीय बना दिया है। मैथिलीशरण गुप्त की आप चाहे जितनी आलोचना कीजिए किन्तु वे कथोपकथन के बादशाह हैं। उनके काव्यों की लोकप्रियता का एक रहस्य यह भी है, जिसका उल्लेख करना हिन्दी के आलोचक प्रतिष्ठा की बात नहीं समझते हैं। उनके बाद इस क्षेत्र में विचक्षणता धर्मवीर भारती ने ही दिखलाई। उर्वशी में कथोपकथन फीलपाँवी है। पृष्ठ ७० में प्रारम्भ होने वाला उर्वशी का पद्य दस पृष्ठों का है। पृष्ठ ४८ से प्रारम्भ होने वाला पुरुरवा का व्याख्यान आठ पृष्ठों का है। पुनः पृष्ठ ६४ से प्रारम्भ होने वाला उर्वशी का वक्तव्य पाँच पृष्ठों का है। हम नहीं चाह कर भी श्री देवी शंकर अवस्थी की इन पंक्तियों को उद्धृत करने का लोभ संवरण नहीं कर सकते—'पढ़ते-पढ़ते ऐसा लगता रहा है कि सामने माइक्रोफोन लाकर रखा है और आमने-सामने दो चोटियों पर उर्वशी और पुरुरवा खड़े होकर अपने ध्वनि-विस्तारक यन्त्रों पर धारा प्रवाह बोलते चले जा रहे हैं, आवश्यकता पड़ जाती तो कामाध्यात्म ही नहीं देश भक्ति एवं राष्ट्रीय संकट पर भी इसी गति से बोल जाते।'[1] अवस्थी जी के कथन में देश भक्ति एवं राष्ट्रीय संकट की चर्चा व्यंग्यात्मक सी दीखती है पर यह अनावश्यक है नहीं। अवश्य ही उनका संकेत 'हुंकार' की कविताएँ और 'परशुराम की प्रतीक्षा' से है। इस ढंग की कविताओं ने ही दिनकर की आदत बिगाड़ दी है।

यदि कोई नाटक पद्य में लिखा जाता है तो पद्य समग्र नाटक में भावनाओं को व्यक्त करने का माध्यम होता है न कि एक अलंकार। दूसरे शब्दों में नाटक में अनुभूति को पकड़ने का माध्यम कविता बन जाती है और बिम्ब जो कि कलात्मक भाषा का अपरिहार्य अंग है एकदम सप्रयोजन (Functional) होता है। उर्वशी में कामाध्यात्म की उपलब्धि का माध्यम

---

१ कल्पना जनवरी, १९६४

बिम्ब-योजना को भी बताया गया है। कवि जब ऐंद्रिक प्राकृति की बात करता है तब बिम्ब लौकिक होते हैं, पार्थिव होते हैं। किन्तु जब पुरुरवा में वह की सीमा सूनेपन में बिलाने लग जाती है और वह आध्यात्मिक तृषा से बचैन हो जाता है तब बिम्ब-योजना भी अपार्थिव हो जाती है। आध्यात्मिक तृषा के क्षण में कवि पार्थिव परिधि से बहुत दूर चला जाता है और कॉस्मिक (Cosmic) बिम्ब की योजना करता है। नारी का सामिप्य पुरुरवा को वासना की तृषा से बेचैन कर देता है। इस बात को दिनकर सरोवर और जलन के बिम्ब से व्यक्त करते हैं—

पर सरोवर के किनारे कंठ में जो जल रही है
उस तृषा उस वेदना को जानता हूँ।[1]

दिनकर ने यहाँ भूख और प्यास के बिम्बों की झड़ी लगा दी है। उर्वशी में आवर्तक बिम्ब (Recurrent image) तो कई जगह है किन्तु उसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण पृष्ठ ४८ से प्रारम्भ होने वाले पुरुरवा के वक्तव्य में ही मिलता है। पहले हम भूख-प्यास मिटाने के साधन को लें। सरोवर, सुधा रस के पात्र पेय भोजन जलधि अधर पुन क्रिया स्वरूप घूँट या दो घूँट—दिनकर ने इतनी वस्तुओं का उल्लेख किया है। विडम्बना तो यह है कि सुधा सरोवर और फिर जलधि तब भी जब आदमी पीने जाता है तो घूट या दो घूट पीकर ही रह जाता है। आधुनिक मनुष्य के आध्यात्मिक संघर्ष का इससे अच्छा वर्णन हमारे साहित्य के किसी और कवि ने नहीं किया है—

किन्तु रस के पात्र पर ज्यों ही लगाता हूँ अधर को
घूंट या दो घूंट पीते ही
न जाने किस अतल से नाद यह आता
'अभी तक भी न समझा ?
दृष्टि का जो पेय है, वह रक्त का भोजन नहीं है
रूप की आराधना का मार्ग आलिंगन नहीं है।'[2]

यहाँ 'रक्त का भोजन' की पूरी प्रशंसा नहीं की जा सकती। यह तो

---

१ उर्वशी ४८
२ उर्वशी ४६

बिम्ब-योजना को भी बनाया गया है। कवि जब दैहिक आसक्ति की ब
करता है तब बिम्ब लौकिक होते हैं, पार्थिव होते हैं। किन्तु, जब पुरुरवा
देह की सीमा सूनेपन में दिखाने लग जाती है और वह आध्यात्मिक तृषा स
बेचैन हो जाता है तब बिम्ब-योजना भी अपार्थिव हो जाती है। आध्यात्मिक
तृषा के क्षण में कवि पार्थिव परिधि से बहुत दूर चला जाता है और
कौस्मिक (Cosmic) बिम्ब की योजना करता है। नारी का सान्निध्य
पुरुरवा को वासना की तृषा से बेचैन कर देता है। इस बात को दिनकर
सरोवर और जलन के बिम्ब से व्यक्त करते हैं—

'पर सरोवर के किनारे कंठ में जो जल रही है
उस तृषा उस वेदना को जानता हूँ।'[1]

दिनकर ने यहाँ भूख और प्यास के बिम्बों की झड़ी लगा दी है। उर्वशी में आवर्तक बिम्ब (Recurrent image) तो कई जगह हैं किन्तु, उसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण पृष्ठ ४८ से प्रारम्भ होने वाले पुरुरवा के वक्तव्य में ही मिलता है। पहले हम भूख-प्यास मिटाने के साधन को लें। सरोवर, सुधा रस के पात्र पेय भोजन जलधि अधर पुण्य क्रिया स्वरूप घूँट या दो घूँट—दिनकर ने इतनी वस्तुओं का उल्लेख किया है। विडम्बना तो यह है कि सुधा सरोवर और फिर जलधि तब भी जब आदमी पीने जाता है तो घूँट या दो घूँट पीकर ही रह जाता है। आधुनिक मनुष्य के आध्यात्मिक अभाव का इससे अच्छा वर्णन हमारे साहित्य के किसी और कवि ने नहीं किया है—

किन्तु, रस के पात्र पर ज्यों ही लगाता हूँ अधर को
घूँट या दो घूँट पीते ही
न जाने किस अतल से नाद यह आता
अभी तक भी न समझा ?
दृष्टि का जो पेय है, वह रक्त का भोजन नहीं है
रूप की आराधना का मार्ग आलिंगन नहीं है।'[2]

यहाँ 'रक्त का भोजन' की पूरी प्रशंसा नहीं की जा सकती। यह तो

---

१ उर्वशी ४८
२ उर्वशी ४९

यहाँ कुछ भी अपार्थिव नहीं है, जग और मही, पुष्प, फूल और दूब शय्या, कुंज-मंदिर, एकांत मंडप, युवती और युवक ये सब एक क्रम से प्रणय का रहस्य खोलते हैं। प्रणय आकाश में नहीं हो सकता इसलिए जग और मही का उल्लेख कवि करता है। पुष्प, फूल और दूब ये उद्दीपन हैं। कुंज-मंदिर और एकांत मंडप संकेत स्थल हैं जहाँ प्रणय का व्यापार चलता है। 'युवती' और 'युवक' आलम्बन और आश्रय हैं। इस प्रकार दिनकर केवल बिम्ब-योजना के द्वारा ही काम और अध्यात्म—अन्ततः कामाध्यात्म—को स्पष्ट कर सके हैं।

आदमी वासना के तिमिर-व्यूह से एक क्षण भी अपने को मुक्त नहीं कर पाता है। नींद में भी वासना उसकी बाँह नहीं छोड़ती। गहरी नींद में जब चेतना डूब जाती है तब अवचेतन आदमी को उद्विग्न बनाये रहता है। आदमी ज्यों ही सोकर उठता है त्यों ही यह चिरंतन तृष्णा हाजिर हो जाती है। इस बात को दिनकर ने कितनी कलात्मकता से कहा है—

किन्तु, जगकर देखता हूँ
कामनाएँ वर्तिका-सी जल रही हैं
जिस तरह पहले पिपासा से विकल थीं
प्यास से आकुल अभी भी जल रही हैं।
रात भर, मानों उन्हें दीपक-सदृश जलना पड़ा हो
नींद में मानों किसी मरुदेश में चलना पड़ा हो।[1]

आदमी वासना में जलता है इसलिए दिनकर 'दीपक' और 'वर्तिका' के समान जलने की बात कहते हैं। पुनः मरुदेश में चलने वाले पथिक की तृषा कभी शांत नहीं होती है। उसी प्रकार नींद में वासना की जलन भी मिटती नहीं है। जगने पर भी वही पुकार लगी रहती है। इसी बात को 'नींद में मानो किसी मरुदेश में चलना पड़ा हो'—यह पंक्ति कितनी स्वच्छता से व्यक्त करती है। आदमी का भाग्य भी विचित्र है। नींद में मरुदेश की यात्रा और जगने पर दरवाजे पर खड़ा 'क्षुधित-अतिथि' और फिर रुधिर में रेंगने वाले सोने के साँप। आदमी करे तो क्या करे? अपने रुधिर और मांस को वह कहाँ फेंक दे?

---

१ उर्वशी ६१-२

बिम्ब-योजना है। यथा शून्य में भी कोई रेखा खींची जा सकती है। तो भी यह कितना सच है कि शून्य में खींची गई रेखा पृथ्वी पर खींची गई रेखा से अधिक स्पष्ट होती है। कम से कम आदमी ऐसा मानता है। दिनकर पुरूरवा की आध्यात्मिक तृषा को बड़ी सफाई से व्यक्त कर सके हैं। यही वह भाषा है जिसे देखकर यह बात खटकती है कि अनुभूति की प्रखरता केवल कविता में ही व्यक्त की जा सकती है।

यह आध्यात्मिक उड़ान बन्द नहीं होती है और इसीलिए बिम्ब योजना भी अपार्थिव ही बनी रहती है। पुरूरवा कहता है—'पर कहाँ तक भी उड़ूँ' इस प्रश्न का उत्तर नहीं है।

मुक्ति महदाकाश में ठहरे कहाँ पर ? शून्य है सब।
और नीचे भी नहीं संतोष,
मिट्टी के हृदय से
दूर होना ही कभी सम्भव नहीं है।"[1]

इन पंक्तियों में 'महदाकाश' 'शून्य' और 'अम्बर' अपार्थिव बिम्ब हैं। क्रिया 'उड़ूँ' (उड़ना) है। यह क्रिया भी मिट्टी से ऊपर उठने की ही बात कहती है। फिर आगे कवि 'आकाश की निस्सीमता' और 'गगन की शून्यता' की बात कहता है। कहना न होगा कि ये सब आध्यात्मिक सत्य (Metaphysical reality) अथवा अपार्थिव सत्य (extra-terrestrial reality) को बड़ी स्वच्छता से व्यक्त करते हैं। इसके बाद पुरूरवा की आध्यात्मिक उड़ान बंद हो जाती है और वह पुनः दैहिक-मानसिक में डूब जाता है। परिणामतः बिम्ब-योजना एकदम पार्थिव और मादक हो उठती है।

'और इतने में नदी का गान फिर देता सुनायी
हम वहीं जन हैं जहाँ पर फूल खिलते हैं।
दूर है अम्बा हमारे देवता की,
पुण्य के ये कुंज मन्दिर हैं
जहाँ शीतल हरित एकांत मंडप में प्रकृति के
कण्टकित युवती-युवक स्वच्छंद मिलते हैं।"[2]

---

१ उर्वशी ४९
२ वही ५०

यहाँ कुछ भी अपार्थिव नहीं है, जग और मही पुष्प फूल और दूब शय्या कुंज-मंदिर एकांत मंडप युवती और युवक ये सब एक क्रम से प्रणय का रहस्य खोलते हैं। प्रणय आकाश में नहीं हो सकता इसलिए जग और मही का उल्लेख कवि करता है। पुष्प, फूल और दूब ये उद्दीपन हैं। कुंज-मंदिर और एकांत मंडप संकेत स्थल हैं जहाँ प्रणय का व्यापार चलता है। 'युवती' और 'युवक' आलम्बन और आश्रय हैं। इस प्रकार दिनकर केवल बिम्ब-योजना के द्वारा ही काम और अध्यात्म—अन्ततः कामाध्यात्म—को स्पष्ट कर देते हैं।

आदमी वासना के तिमिर-व्यूह से एक क्षण भी अपने को मुक्त नहीं कर पाता है। नींद में भी वासना उसकी बाँह नहीं छोड़ती। गहरी नींद में जब चेतना डूब जाती है तब अवचेतन आदमी को उद्विग्न बनाये रहता है। आदमी ज्यों ही सोकर उठता है त्योंही यह चिरंतन पुच्छा हाजिर हो जाती है। इस बात को दिनकर ने कितनी कलात्मकता से कहा है—

> किन्तु, जगकर देखता हूँ
> कामनाएँ वर्त्तिका-सी बल रही हैं
> जिस तरह पहले पिपासा से विकल थी
> प्यास से आकुल अभी भी जल रही हैं।
> रात भर, मानों उन्हें दीपक-सदृश जलना पड़ा हो
> नींद में मानों किसी मरुदेश में चलना पड़ा हो।[1]

आदमी वासना में जलता है इसलिए दिनकर 'दीपक' और 'वर्त्तिका' के समान जलने की बात कहते हैं। पुन मरुदेश में चलने वाले पथिक की तृषा कभी शांत नहीं होती है। उसी प्रकार नींद में वासना की जलन भी मिटती नहीं है। जगने पर भी वही पुकार लगी रहती है। इसी बात को 'नींद में मानो किसी मरुदेश में चलना पड़ा हो'—यह पंक्ति कितनी स्वच्छता से व्यक्त करती है। आदमी का भाग्य भी विचित्र है। नींद में मरुदेश की यात्रा और जगने पर दरवाजे पर खड़ा क्षुधित-प्रतीपित और फिर रुधिर में रेंगने वाले सोने के साँप। आदमी करे तो क्या करे? अपने रुधिर और मांस को वह कहाँ फेंक देगा?

---

१ उर्वशी ५१-२

फिर सुरभित कोई अतिथि आवाज देता
फिर अधर-पुट खोजने लगते अधर को
कामना छूकर त्वचा को फिर जगाती है,
रेंगने लगते सहस्रों साँप सोने के रुधिर में
चेतना रस की लहर में डूब जाती है।[1]

सुरभित कोई अतिथि' की क्या व्याख्या की जाए ? यह महा सरस्वती का चमत्कार है। 'अतिथि' उसे कहते हैं जिसके आने की कोई तिथि नहीं होती। वासना कब आएगी इसको कौन बता सकता है ? इसलिए वह अतिथि है। अतिथि का विशेषण 'कोई' है। वह स्वामी नहीं जानता कि वह अतिथि कौन है ? वासना का स्वरूप भी अस्पष्ट होता है। 'कोई' की यही सार्थकता है। 'सुरभित' तो वासना का धर्म है। जब कोई 'सुरभित अतिथि' आवाज देता है, तब अधर-पुट' अधर को खोजने ही लगते हैं। इस प्रकार प्रखर वासना की अभिव्यंजना दिनकर ने सार्थक बिम्ब-योजना से की है। उर्वशी के ये ही अंश आधुनिक काव्य के सबसे ऊँचे शिखर हैं और कामायनी के लज्जा सर्ग के साथ हिन्दी का पाठक इसे भी बार-बार पढ़ता रहेगा। इन स्थलों में दिनकर वास्तव प्रतिबिम्ब स्थापित करने में एकदम सफल रहे हैं।

उर्वशी को दिनकर ने जो काव्य-नाटक का रूप दिया है उसकी इसके सिवा और कोई मौलिक व्याख्या नहीं की जा सकती कि यह कालिदास का प्रभाव है। स्पष्ट ही नाटक गौण है, कविता प्रमुख समग्र नाटक में नाटकीय स्थल कम ही हैं। अपवाद है तो पंचम अंक जहाँ नाटकीयता प्रचुर है। समग्र नाटक में चरित्र का विकास भी नहीं के बराबर है। प्रथम दो अंकों का कार्य उस स्थिति का खुलासा करता है जो तृतीय अंक का प्रतिपाद्य है। इस दृष्टि से प्रथम दो अंकों को मुख्यांश मात्र कहा जा सकता है। उर्वशी की आत्मा तृतीय अंक है जो नाटक नहीं कविता ही है। श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में—तृतीय अंक कवि के समाधिस्थ चित्त की देन है। अम्र ...मड़-घुमड़कर रूप वर्णन का निमित्त बनता है, माया मुग्ध सविका की ...ति इंगित पर दौड़ती रहती है, कल्पना अनायास विगलित निर्झरणी की

---

१ उर्वशी ५२

भाँति रूप और छन्द को व्यंजित करती रहती है और उल्लास मुखर कवि पर्दे के पीछे बैठा हुआ सूत्रधार की भाँति पुतलियों को नचाता रहता है। कवि के मनोजगत के अत्यन्त निभृत कक्ष में बैठे हुए विचार स्वयमेव ऊपर आते जाते हैं। उर्वशी का तृतीय अंक कवि के प्राणों को भेदकर उसका समग्र रस आत्मसात् करके निकली हुई काव्यलता का सर्वाधिक कमनीय कुसुम है—रंगीन मादक मोहक।[1] उर्वशी की सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि तृतीय अंक है और तृतीय अंक की महिमा कविता की महिमा है। यदि कवित्व का यह प्रकर्ष यहाँ न होता तो दिनकर के भाग्य से ईर्ष्या करने का कोई कारण नहीं होता। तृतीय अंक का अन्त भी बड़ा कलात्मक है। सुबह हो गई है सभी तर्क-वितर्क शमित हो गए हैं, मास बीत गया है—वह मास जिसे प्रेम में मत्त प्रेमी-युगलों ने गन्ध-मादन पर्वत पर बिताया। यह उनकी एक रात है—एक स्वप्न। पाठक पुरुरवा और उर्वशी के साथ तृतीय अंक में एक कालहीन देश में पहुँच जाता है जिसके आयाम सौन्दर्य प्रेम और ऊँची बौद्धिकता हैं। हिन्दी कविता के पाठक का सौन्दर्य प्रेम और ऊँची बौद्धिकता के समन्वय का रस लेने का यह पहला अवसर मिला है। उर्वशी का चौथा अंक मुख्य धारा नहीं है। वह धारा एक तट है।

उर्वशी का रचयिता एक प्रतिभाशाली कवि है किन्तु, उर्वशी को पढ़कर ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता कि वह नाटकीय बिम्ब पर भी उतना ही अधिकार रखता है। उर्वशी में नाटक और कविता एक दूसरे से कतराते हैं। दूसरे शब्दों में उर्वशी की कविता सजावट और रंगीनी है। वह नाटक का अपरिहार्य अंग नहीं है। कहीं-कहीं प्रतिभा का प्रखर विस्फोट होता है खासकर बिम्ब योजना में। कहीं-कहीं नाटकीय कविता भी कवि प्रस्तुत लिख गया है। यहाँ तक कि अत्यन्त स्थूल तथ्य भी वह कविता के माध्यम से कह गया है जैसे विश्वमना-ज्योतिषी का ग्रहस्था योग का वर्णन करना। ज्योतिष के अशिष्ट तथ्यों को दिनकर बड़ी सफलता से कविता में पचा सके हैं। किन्तु समग्र रूप में उर्वशी का नाटकीय बिम्ब शिथिल और विशृंखल है। हमारी राय में यह दिनकर की प्रतिभा की सीमा है।

---

[1] दिनकर सृष्टि और दृष्टि ११६

नाद, क्रिया और प्रतिक्रिया

पुरुरवा : क्रिया

दिनकर का पुरुरवा एक राजा और वीर नहीं है, वह तो मात्र कवि और प्रेमी है।

सिंहासनासीन कवि-सम्राट की परिकल्पना पश्चिम में शेक्सपियर ने अपने नाटक 'रिचार्ड द्वितीय' में और रेनन ने अपनी पुस्तक 'एन्टी क्राइस्ट' में की है। इन दो कृतियों को पढ़ने से कवि-सम्राट के सम्बन्ध में हमें पश्चिमी विचार-धारा का पता चलता है। पश्चिम की विचार-धारा यह मानती है कि एक ही व्यक्तित्व में कवि और सम्राट का समन्वय होना एक व्यतिक्रम है। जिन गुणों के कारण वह व्यक्ति कवि की मनीषा से संपन्न है, वे ही गुण उसके सम्राट के लिए बाधक हैं। ठीक इसके विपरीत भारत में पहले कालिदास ने अपने 'विक्रमोर्वशीय' में और अब दिनकर ने 'उर्वशी' में जिस पुरुरवा का निर्माण किया है। वह सिंहासनासीन एक अयोग्य व्यक्ति (क्योंकि वह कवि है) का चित्रण न होकर, एक वीर और राजकीय व्यक्तित्व में कवि प्रकृति का रमणीय अध्ययन है।

पुरुरवा के निर्माण में दिनकर को अद्भुत कलात्मक उपलब्धि मिली है। सम्राट के जड़ीदार पोशाक और वीर के धनुष को दिनकर ने केवल पृष्ठ भूमि के रूप में उपस्थित किया है और उसे अपने मुख्य प्रतिपाद्य का बाधक नहीं बनने दिया है। काव्य में चित्रित किसी भी सम्राट को रिचार्ड द्वितीय को भी भाषा का यह वैभव प्राप्त नहीं है सूर्य और चन्द्र के इस बेटे का है। दिनकर का पुरुरवा इस अर्थ में अप्रतिम है। पुरुरवा की प्रकृति ही रंगीन है। यह कवित्वमय रंगीनी उसकी अपनी विशेषता है। यह उसकी जन्मजात प्रकृति है। वह कवित्वमय रंगीनी से देखता है, सोचता है, जानता है। उसका मन सौरभ की भाषा का विलक्षण चित्राधार है। अपनी विराट कल्पना की गंगा में स्नान कराए बिना वह न तो कोई चीज देख सकता है और न कोई भी आवेग महसूस कर सकता है। उसके पास एक कवि की सूक्ष्म

पर्यवेक्षण शक्ति है, एकाग्रता और साकार में बाँधने की शक्ति है। प्रकृति की जो चीजें उसने एक बार देख ली हैं वे कभी फिर उसकी आँखों से ओझल नहीं होती हैं। उज्ज्वल मेघों का दल, लाल-लाल कमल, कुंकुम और यावक ऊषा की लाली, चाँदनी की पुकार, समुद्र का किनारा, फूल के लिए सम-कना, अनिल की लहर में पाटल के दलों का उड़ना, सितासित नभ में रजनी का आना-जाना, मानव विकल तट की डाली पर गिलहरियों का उछलना, पत्तों में छिपकर कोयल का बोलना, डालियों को मरोड़कर कल्प का धारण, मति में बहना, पुष्प के कुञ्ज-मन्दिर, वल्लरी में खिले हुए फूल, जल का स्रोत, मदन छाया, श्यामल मेघ और शीतल पवन पुरुरवा को जगह-जगह ये सब याद आते हैं। कवित्व की उसमें ऐसी अद्भुत शक्ति है कि महारानी औशीनरी को जब सावन-विहार के लिए जाते समय जो संवाद वह भेजता है उसमें पतिभक्ति की झाँई उत्पन्न कर देता है और अपने स्वप्न का ऐसा प्रभावशाली वर्णन करता है कि सभासद विस्मित रह जाते हैं।

सौन्दर्य की इतनी विराट कल्पना को वही प्राप्त कर सकता है जिसका मन कविता की टकसाल हो और जिसका गरिमामय जीवन आदर्शों का स्वयं एक महाकाव्य हो तथा जिसकी आत्मा ईश्वर से एकाकार हो। वही पुरुरवा है, वह व्यक्ति जो नाना प्रकार का रव करे, नाना ध्वनियों से आक्रान्त हो। अतः निश्चय ही एक अर्थ में पुरुरवा का सम्पूर्ण पूर्व जन्मों का जीवन उर्वशी से मिलने की तैयारी रहा है। वह ठीक ही अपने नाम की सार्थकता सिद्ध करता है, दूर-दूर तक जाने वाला रव करता है फिर भी अपनी आत्मा की वास्तविक पुकार को ठीक-ठीक महसूस नहीं कर पाता है। जब वह पहली बार उर्वशी को देखता है तब उसका मन सारे वेग से उसके प्रेम में डूब जाता है। उर्वशी वह समुद्र है जहाँ पहुँचकर वह नदी की तरह रीत जाता है—

> किन्तु, आज आषाढ़ घनाली छायी मतवाली है
> मुख फेर कर खड़ी हो गई नूतन हरियाली है।"[1]

उसके जीवन की सबसे प्रबल कामना जैसे उसकी प्रकृति के कवित्व में रस और बिम्ब जिससे उसकी स्मृति भरी है, अपनी गरिमा और वीरता से उत्पन्न उसके आनन्द आदि दरस पड़ते हैं। उसके मन से फूटने वाले

---

१ उर्वशी १२

प्रत्येक विचार आवेग और बिंब का उसके प्रेम से अपरिहार्य सम्बन्ध है और क्षण भर के लिए वैसे वे उसी की वाक्-पटुता की ज्योति में उद्भासित हो उठते हैं। जब पुरूरवा को अपने पितृत्व का पता चलता है तब वह अपनी अनुभूति और कल्पना की समस्त साकारता (Concreetness) आयु पर डाल देता है—

> 'पुत्र ! अरे मैं पुत्रवान हूँ घोषित करो नगर में
> जो हो जहाँ वहीं से मेरे निकट उसे आने दो।
> द्वार खोल दो कोष भवन का कह दो पौर जनों में
> जितना भी चाहें सुवर्ण आकर ले जा सकते हैं।
> ऐल वंश के महागगन पर नया सूर्य निकला है
> पुत्र प्राप्ति का लाभ भाग्य अनुपम उत्सव है।
> पुत्र ! अरे कोई संभाल रखो मेरी संज्ञा को
> न तो हर्ष से अभी विकल-विक्षिप्त हुआ जाता हूँ।'[२]

पुनः वह आयु से कहता है—

> किन्तु लाल ! अब यामिनियाँ म कैसे काट सकोगे ?
> यह प्रसून का नहीं, धर्म का सुदृढ़ बाहु-बन्धन है।'[३]

ऋषि कुमार वाले स्वप्न में उसका पिपासित वात्सल्य ही अपनी विकलता में व्यक्त हुआ है। हिन्दी कविता म शायद ही कहीं पिता के व्याकुल वात्सल्य की ऐसी अभिव्यक्ति मिलती हो। इस दृष्टि से सूरदास की यशोदा की तरह दिनकर का पुरूरवा भी विलक्षण निर्माण है।

कालिदास ने विक्रमोर्वशीय के प्रथम अङ्क में ही पुरूरवा के पराक्रम का वर्णन किया है। दिनकर केवल पराक्रम का गुण कथन करते हैं। पुरूरवा का प्रेम किसी साहसिकता को जन्म नहीं देता है। भाव के द्वारा जो कर्मठों के कर्म क्षेत्र का विस्तार होता है सो पुरूरवा में नहीं है। पुरूरवा में व्यक्त विरह की उदात्तता का कोई औचित्य नहीं है। कवि आवेग की इस उदात्तता का व्यापार के पराक्रम पर कोई सामंजस्य नहीं उपस्थित कर सका है। उर्वशी को स्वयं इस बात की शिकायत है कि उसका

---

२ उर्वशी १४१

३ वही १४६

मिलन सहजता की मर्यादा गँवाकर ही सम्भव हो सका है। पुरुरवा केवल इस भरोसे बैठा रहा कि उसके मन का दाह 'अम्बर-पुंज को भेद' उर्वशी के मन को संतप्त कर देगा और वह भूतल पर स्वयं चली आएगी। पुरुरवा का यह तर्क कि उसने न तो कभी दूसरे की वसुधा लेने को लक्ष्य किया और कभी दूसरे के स्वाधीन मुकुट पर हाथ बढ़ाया उसके चारित्रिक उत्कर्ष का अवश्य द्योतित करता है परन्तु इससे उसके उद्दाम प्रेम का औचित्य नहीं सिद्ध हो जाता। यह ठीक है कि इस मन्दिर का द्वार सदा अन्तःपुर से खुलता है किन्तु 'प्रकाश-सुमन' को देख कलियों की प्रत्यंचा से टंकार तो निकलनी ही चाहिये। सच तो यह है कि पुरुरवा के पास उर्वशी के इस उपालम्भ का कोई उत्तर नहीं है कि 'वही धन्य जो मानमयी प्रणयी के बाहुवलय में खिंची नहीं विक्रम तरङ्ग पर चढ़ी हुई आती है।

बाह्य कार्य-व्यापार से यह सामंजस्य बाद में भी घटित नहीं हुआ है। उर्वशी जब आयु के आने पर स्वर्ग चली जाती है तब पुरुरवा का आक्रोश इस सीमा तक नहीं पहुँचता है कि उसकी रति की विह्वलता का औचित्य सिद्ध हो जाए। उर्वशी के चले जाने पर वह उपमाओं-उत्प्रेक्षाओं की झड़ी लगा देता है, लेकिन वास्तविक क्रिया में प्रवृत्त नहीं होता है।

'मगन रही स्पन्दन' को सुनाकर पटह बजाने की धमकी में कोई जान नहीं है। यहाँ पाठक में यह भावना जगती है कि क्या ही अच्छा होता कि पुरुरवा स्वयं से बैर ठान निकल पड़ता। किन्तु, उसके हृदय में बैठी अपनी ही छिपी उसके द्वारा सन्नाटों पर प्रक्षेपित अपनी ही 'कातरता' की बात उसके अन्दर का 'सन्यासी' उस 'मृषा मोह माया' से फुरसत दिला देता है।

ऊपर से देखने पर तो ये सारी बातें दिनकर के पक्ष में नहीं पड़ती हैं और लगता है कि कवि ने एक असफल पात्र की सृष्टि की है। पर थोड़ी सी गहराई में जाते ही दिनकर के विराट् 'विजन' से हमारा परिचय होने लगता है। हम कह चुके हैं कि कालिदास की तरह दिनकर का पुरुरवा यथार्थ कर्म के धरातल पर नहीं उतरता है। दिनकर केवल उसके पराक्रम का गुण कथन करते हैं। इसलिए पुरुरवा के चरित्र में वह चमक नहीं आ पाती है, जो कालिदास के पुरुरवा में है। किन्तु, इसीलिए ऐसा लगता है कि दिनकर का पुरुरवा आधुनिक मनुष्य की द्विधा का सबसे बड़ा प्रतीक है। आज के मनुष्य

का कर्म पक्ष निस्तेज हो गया है। आज का मनुष्य चिंतन में लम्बी-लम्बी बात करता है, पर कर्म में वह कदाचित् ही कभी प्रवृत्त होता है। आज के मनुष्य का संघर्ष अधिक दार्शनिक और एकेडमिक ही होता है। गेटे का फाउस्ट इसी कोटि का मनुष्य है। शेक्सपियर का हैमलेट ऐसी ही परिकल्पना है। उर्वशी जब चली जाती है, तब पुरुरवा उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं की झड़ी लगा देता है लेकिन वास्तविक क्रिया में प्रवृत्त नहीं होता है। कालिदास का पुरुरवा अंत तक भी सम्राट् और वीर की तरह ही दिखलाया गया है जिसकी सबल बाँहों का सहारा देवताओं को राक्षसों-दानवों से लड़ने में चाहिए। परन्तु, दिनकर का पुरुरवा संन्यास लेकर भग रहा है। हाय रे! आधुनिक मनुष्य का भाग्य! यह कर ही क्या सकता है? पुरुरवा हिन्दी का हैमलेट है। ऐसा 'चिंतन' कोई अत्याधुनिक दृष्टि से सम्पन्न कवि ही देख सकता है। हिन्दी कविता के सहस्राधिक वर्षों के इतिहास में पुरुरवा विलक्षण निर्मिति है। हिन्दी कविता के नायकों की 'गैलरी' से यदि पुरुरवा को निकाल दिया जाए तो वह गैलरी प्रभाहीन हो जाएगी।

यह पुरुरवा पुरुषाधिक पुरुष है। उसके उर में सलिल की धार है और प्राणों में महाग्नि उसकी उँगलियाँ कलियों की हैं और मुट्ठियाँ पत्थर की। कदाचित् यह रवीन्द्रनाथ की परिकल्पना का मनुष्य है जो मन से सुकुमार और शरीर से बर्बर है। एक जगह उसके विषय में उर्वशी ऐसी ही कहती भी है—

'स्यात् दिखाने को धरती जब महावीर जनती है
मधुरों से वह बली सुरों से भी मनोज्ञ होता है।'[1]

यह पुरुरवा बड़ा ही सुसंस्कृत मनुष्य है। प्रेम में भी वह कहता है—

'चिर कृतज्ञ हूँ इस कृपामृत के हित।'

आज के सुसंस्कृत मनुष्य की ही तरह वह यह मानता है कि नारियों का हरण करना अब बर्बरता है और भिलाटन म्लानिमय। उर्वशी जब उससे बलपूर्वक हरण की बात कहती है तो वह पुरानी नैतिकता का ही उल्लेख करती है जब पुराने समय में और मध्य युग तक यह व्यापार चलता रहा। आज का मनुष्य पुरानी नैतिकता पर आचरण कर नहीं सकता है। वह धर्म को एकादशी या पूर्णिमा की चीज नहीं समझता

---

१ उर्वशी ७६

है। आज यदि धर्म उसमें है तो वह प्रत्येक सांस में समाहित है। कम से कम उसकी कामना यही है। धर्म की सार्थकता आज इस बात में है कि वह कैसे धरातल पर मनुष्य के आचरण को प्रभावित करे।

दिनकर का पुरुरवा तन के धरातल पर मनुष्य है किन्तु मन के धरातल पर सन्यासी है। कलि के प्रगाढ़ क्षणों में भी वह खो जाता है। उसके लिए प्रेम शारीरिक तृप्ति भी है और रहस्यवाद भी। यह आज की सभ्यता की प्रमुख समस्या है। ज्ञान ने मनुष्य को बूढ़ा बना दिया है। ज्ञान के मरुदेश में भावना की धारा सूख रही है। प्रेम और विरह में आज वह तीव्रता नहीं रही जो कालिदास के समय में थी। विज्ञान ने इनकी तीव्रता छीन ली है। पहले का आदमी सीधा और सरल होता था। यदि उसे गुस्सा होता था तो अपने पड़ोसी का माथा भी वह बिना हिचक के टीप देता था और यदि प्रसन्नता होती थी तो मस्तियों उछलने लगता था। किन्तु आज की सभ्यता अधिक संश्लिष्ट हो गई है। जैसे प्याज में पर्त पर पर्त छिलका चढ़ा रहता है, उसी प्रकार आज के मनुष्य पर कई परत भावना की चढ़ गई है। यह पता लगाना कठिन हो गया है कि उसकी वास्तविक परत कौन है। भावना की अपेक्षा वह बुद्धि से अधिक चालित होता है। यदि उसे कोई बड़ी प्रसन्नता होती है तो इस डर से कि पड़ोसी जान न जाए, वह उस रूमाल से ढँक लेता है और यदि किसी के आचरण से उसे कोई ठेस पहुँचती है तो वह उसे इस भय से जाहिर नहीं होने देता है कि कहीं प्रतिशोध लेने में न बाधा हो जाए। अतः प्रेम और घृणा विरह और मिलन की तीव्रता उसमें अब पहले सी न रही। उसकी इस अनुभूति कमी हुई है। फिर, विज्ञान ने भी उसकी अनुभूति की तीव्रता छीन ली है। आज का मनुष्य कितनी भी दूर अपनी प्रिया से रहकर पत्राचार कर सकता है टेलीफोन पर बात कर सकता है। फोटो का आदान-प्रदान वह पत्रों के द्वारा कर सकता है। उसका विरह इतना तीव्र हो ही नहीं सकता कि कालिदास के विरही यक्ष की तरह मेघ से अपनी व्यथा निवेदित करे। अतः आज के मनुष्य की भावना तीव्र नहीं रह गई है। न तो उसकी घृणा प्रखर होती है न प्रेम उद्दाम। न तो उसका मिलन उत्फुल्ल होता है न विरह उत्कट। वह बूढ़ा हो गया है मानो जीव। धर्मवीर भारती ने अपनी कविता 'नया रस' में आधुनिक मनुष्य की इसी व्यथा का चित्रण किया है—

प्रभु !
इस रस को
इस नये रस को क्या कहते हैं ?
जिसमे शृङ्गार की आसक्ति नही
जिसम निर्वेद की विरक्ति नही
जिसमें बाहों के
झूलो बीस बन्धन के
आकुल परिरम्भण की मादी तन्मयता के क्षण म भी
ध्यान कहीं और चला जाता है
तन पिछले झूलो की प्यास पिया करता है
पर मन म कई प्रश्न-चिह्न उभर आते हैं
चुम्बन आलिंगन का जादू
मन को जैसे ऊपर ही ऊपर से छूकर रह जाता है।[1]

पुरुरवा का निर्माण इसी बिन्दु पर हुआ है। झिझक उसमें प्रारम्भ से ही है। उर्वशी से वह प्रेम करता है पर उसे प्राप्त करने के लिए वह सह नहीं सकता है। कर्म उसकी कोई विशेषता नहीं है। गन्धमादन पर्वत पर मधुयामिनी मनाने जाता है तो औशीनरी को सवाद अश्रुपूर्ण भेजता है। तृतीय अंक में प्रमाद केलि क्षणों म भी वह मन के धरातल पर उर्वशी में डूब नहीं पाता। नारी में पुरुष की अपेक्षा अधिक सहज ज्ञान होता है। उर्वशी यह भाँप जाती है वह झुँझलाकर कहती है—

तन स मुझको कसे हुए अपने दृढ आलिंगन म
मन स किन्तु विषण्ण दूर तुम कहाँ चले जाते हो ?
बरसाकर पीयूष प्रेम का आँखों से आँसों म
मुझे देखते हुए कहाँ तुम जाकर खो जाते हो ?
कभी-कभी लगता है तुमसे जो कुछ भी कहती हूँ
आशय उसका नहीं शब्द केवल मेरे सुनते हो।[2]

वास्तविक पुरुरवा यही है। ऊपर ऊपर से वह भोग म डूबा हुआ है पर भीतर स वह विषण्ण है। उर्वशी के कहने पर कितनी बार वह अपनी

१ सात गीतवर्ष धर्मवीर भारती।
२ उर्वशी ८३

अन्तरात्मा की पुकार का दबा चुका है। भोग उसका श्रेय नहीं है। जब आयु प्राप्त है और उसकी चली जाती है, तो क्षण भर के लिए उसमें उद्गम होता है पर पुनः वह प्रकृतिस्थ हो सन्यास लेकर चल देता है। यह संन्यास दिनकर की विलक्षण कलात्मक यातना है। साम्राज्य वैभव का इससे अच्छा अवसर हो ही नहीं सकता। उसका कर्म अब तक चिन्तन का सहचर नहीं बन सका था। कवि प्रकृति की यही विशेषता होती ही है। उसके भोगमय पुरुषार्थ जीवन में उसकी आन्तरिक शक्ति के शोषण का यह क्रम अनवरत चलता चला आ रहा था। अन्तरतम के रुदन को वह सुनकर भी अनसुनी कर देता था—

इन दैहिक सिद्धियों, कीर्तियों के कंचन आवरण में
भीतर ही भीतर, विपण्ण मैं कितना रिक्त रहा हूँ!
अन्तरतम के रुदन, अभाव की अव्यक्त गिरा को
कितनी बार श्रवण करके भी मैंने नहीं सुना है।[1]

यह सन्यास पलायन नहीं है। यह सन्यास बाध्य नहीं है। यह तो भारी बन मुक्त काम करने वाले मजदूर का मंजिल पर पहुँचकर बोझ उतार कर रख देना है। इस सन्यास का सुख अद्भुत होता है। पुरुरवा स्वयं इसकी व्याख्या यों करता है—

दिन भर लुटा प्रकाश विभावसुमी प्रताप मान पर
सारी रश्मि समेट शैल के पार उतर जाते हैं
बैठ किसी एकांत प्रांत निर्जन कंदरा दरी में
अपना अन्तमगन रात में उद्भासित करने को
यों मैं ही क्यों रहूँ सदा तपता मध्याह्न गगन में?
नव सूर्य को क्षितिज छोड़ ऊपर नभ में आने दो।
पहुँच गया मेरा मुकुट किरणें समेट अम्बर से
चक्रवाल के पार विजन में कहीं उतर जाने का।[2]

पुरुरवा का यह सन्यास उसके जीवन की अनिवार्य परिणति है। प्रकृति दूर व्यक्ति से मूल्य चुकवा लेती है। पुरुरवा का भी भाग का मूल्य देना ही

[1] उर्वशी १२१
[2] वही, १२२

पड़ा। सन्यास तो प्रेम का मूल्य ही है। इसलिए पुरुरवा अंत में अपनी आत्मा की पुकार सुनता है, आत्म-चेतना की आवाज के सहारे। तब वह चल देता है। कालिदास के 'विक्रमोर्वशीयम्' में वह पहाड़ में उठती हुई अपनी ही आवाज की प्रतिध्वनि सुनता है। दिनकर में वह आत्म-चेतना की आवाज बन जाती है। दिनकर की इस कारीगरी की विलक्षणता अद्भुत है। पुरुरवा का यह सन्यास दिनकर की भावना के अनुकूल भी है। दिनकर प्रेम को, नारी प्रेम को ईश्वर तक पहुँचने का माध्यम मानते हैं। प्रेम जनमता है देह से पर उसकी अंतिम परिणति रूप से अरूप की ओर होती है। यहीं आकर सौंदर्य और भगवान एक ही बन जाते हैं। ऐसी स्थिति में नारी कामिनी नहीं होकर परम विभा की छाया बन जाती है। पुरुरवा का अंतिम चिंतन कामाध्यात्म की धार है। दिनकर ने नारी के सौन्दर्य को तपस्या का ही प्रकार बना दिया है। प्रेम यहाँ कामना नहीं भावना और निदिध्यासन है—

'पर कैसे ? जा स्वर्ग उर्वशी को फिर से पाएगा ?
अथवा अपने महाप्रभ के बलशाली पंखों पर
चढ़ असीम उड्डयन भरेगा नभ के महागगन में
जहाँ त्रिया कामिनी नहीं छाया है परम विभा की
जहाँ प्रेम कामना नहीं प्रार्थना निदिध्यासन है ?'[1]

पुरुरवा दिनकर की विलक्षण प्रतिभा का कीर्ति-स्तम्भ है। हिन्दी नायकों की परम्परा सुदीर्घ और विशाल है। चन्दबरदाई के पृथ्वीराज से लेकर प्रसाद जी के मनु तक जो एक अटूट शृंखला दीख पड़ती है वह अत्यन्त भव्य है। उसी शृंखला की नवीनतम कड़ी पुरुरवा है—नवीनतम किन्तु ज्योतिर्मय। प्रसाद जी का मनु आदिम मनुष्य के अधिक निकट है। आधुनिक मनुष्य की झाँकी उसके व्यक्तित्व में बड़ी हल्की है। किन्तु पुरुरवा पूर्णतया आधुनिक मनुष्य है। शेक्सपियर ने हैमलेट में और गेटे ने अपने फाउस्ट में इस आधुनिक मनुष्य का दर्शन किया है। हिन्दी नायक-नायिकाओं की परम्परा में पुरुरवा की ज्योति अमर है। वह आधुनिक भाव-बोध का पूर्ण प्रतिनिधि है। आलोचक ज्योतिषी तो नहीं होता किन्तु मेरा अनुमान है कि जिस प्रकार अंग्रेजी में हैमलेट विषयक एक साहित्य ही तैयार हो गया है उसी प्रकार हिन्दी में पुरुरवा विषयक साहित्य का निर्माण कालान्तर में होगा।

१ उर्वशी १४१

लेकिन एक बात तब समझ में नहीं आती है। इतने बड़े व्यक्तित्व का निर्माण कर भी कवि ने पुस्तक का नामकरण उर्वशी क्यों किया? क्या नायिका प्रधान नाम हमारे युग की विशेषता हो गई है? 'कामायनी' 'यशोधरा' और 'कनुप्रिया'—क्या ये नाम आकस्मिक हैं या एक प्रवृत्ति की सूचना देते हैं। हमारी राय में यदि पुस्तक का नाम पुरुरवा होता तो अधिक अच्छा होता।

औशीनरी प्रतिक्रिया

औशीनरी कवि के शब्दों में कोलाहल के बीच मूकता की मकंप रेखा सी है। यही उसकी सीमा भी है यही सामर्थ्य भी। वह परम्परा-युक्त भारतीय नारी का प्रतिनिधित्व करती है जो अपनी अपार ममता प्रियतम के चरणों में समर्पित कर भी सफल दाम्पत्य का उपभोग इसलिए नहीं कर पाती कि उसमें गृहस्थ के चातुर्य का अभाव होता है।

औशीनरी के दाम्पत्य जीवन की असफलता का कारण यह है कि वह अपने कामिनी-रूप की महत्ता समझ नहीं पाती है। वह भार्या की कला से अनभिज्ञ है। उसे प्रारम्भ में यह बात समझ में नहीं आती है कि उर्वशी ने किन कारणों से पुरुरवा को जीत लिया। पुरुरवा ऐसा नर नहीं है जो यों ही किसी अन्य नारी की ओर आकर्षित हो जाए। वह लम्पट नहीं है। उसका चारित्रिक उत्कर्ष श्रेयस्कर है। फिर भी यदि वह औशीनरी की उपेक्षा कर उर्वशी की ओर आकर्षित होता है तो उसका कोई प्रबल कारण होना ही चाहिए। भ्रमर-वृत्ति पुरुरवा की कोई विशेषता नहीं है। सफल दाम्पत्य के निर्वाह के लिए अपार समर्पण ही पर्याप्त नहीं है कुछ चातुर्य भी चाहिए। जीवन जीने की भी एक कला होती है। पुरुष और नारी की प्रकृति एक नहीं होती है। पुरुष तेज प्रधान जीव होता है। नारी ममता प्रधान प्राणी होती है। पुरुष में अग्नि का ज्वार अधिक होता है। वह बार-बार अपने उद्वेग में तट को ही डुबा डालना चाहता है। लेकिन उसकी प्रकृति नहीं है। संघर्षों से क्लान्त होने पर वह नारी की छाया चाहता है। वह नियमतः द्विधा जीव होता है। उसके जिस भीतरी स्रोत से पौरुष का प्रवाह फूटता है उसी से प्रणय की निर्झरणी भी निकलती है। तेज एवं पराक्रम की अग्नि और स्निग्धता एवं सुकुमारता का पीयूष दोनों धाराएँ एक ही पर्वत से फूटती हैं। जो पुरुष जितना प्रतापी होता है, उसमें दुर्बलता भी उतनी ही

प्रखर होती है। पुरुष क्षण-जीवी प्राणी है। क्षण में ही उफन पड़ता है, क्षण में ही पिघल जाता है। सफल दाम्पत्य के निर्वाह के लिए पुरुष की यह प्रकृति समझना आवश्यक है। जीवन की लड़ाई में जीतते वे हैं जो सभी दाँव-पेंच जानते हैं। जो केवल वीर हैं, लड़ाई की कला नहीं जानते वे हार जाते हैं।

औशीनरी के दाम्पत्य की असफलता उसी के व्यक्तित्व में सन्निहित है। उसके व्यक्तित्व में तेजस्विता नहीं है। वह तप करना भी नहीं चाहती है अपने सहज प्राप्य को वापस लाने के लिए उपाय नहीं सोचती है। वह निराश होकर मृत्यु की ही कामना करती है—

आजीवन वे साथ रहेंगे ? तो अब क्या करना है ?
जीते जी यह मरण झेलने से अच्छा मरना है।[1]

मदनिका औशीनरी को पुरुष के निसर्ग का संकेत करती है। पुरुष की प्रकृति का अत्यन्त ही स्वच्छ विश्लेषण वह यों करती है—

'नयी सिद्धि हित नित्य नया संघर्ष चाहता है नर,
नया स्वाद नव जय नित्य नूतन हर्ष चाहता है नर।
कर स्पर्श से दूर, स्वप्न झलमल नर को भाता है,
छककर जिसको पी न सका वह जल नर को भाता है।
प्रीवा में झूलते कुसुम पर प्रीति नहीं जगती है
जो पद पर चढ़ गई चाँदनी वह फीकी लगती है।[2]

पुरुष का प्रेम अपरिचित एवं दूरी का रोमांस पसन्द करता है। पुरुष का व्यक्तित्व रोमांस के आन्तरिक पुलक स्पर्श से जगमग रहता है। रोमांटिक व्यक्ति की एक दुर्बलता यह होती है कि उसमें धैर्य का अभाव रहता है। उसका चित्त चंचल रहता है। सफल दाम्पत्य के लिए नारी को पुरुष की प्रकृति को ठीक से समझना होता है और तदनुरूप अपने आचरण को अभियोजित करना पड़ता है।

ऐसी बात तो नहीं है कि औशीनरी यह बात एकदम समझती न हो। कुछ तो वह भी समझती ही है। किन्तु जीवन की सबसे बड़ी ट्रेजडी तो

---

१ उर्वशी १२
२ वही १२

यही होती है कि आदमी समझकर भी नहीं समझ पाता है। औशीनरी कहती है—

> गृहिणी जाती हार दाँव सम्पूर्ण समर्पण करके
> जयिनी रहती बनी अप्सरा ललक पुरुष में भरके।
> पर, क्या जाने कसक जगाना नर में गृहिणी नारी?
> जीत गयी अप्सरा सखी! मैं रानी बनकर हारी।"[1]

औशीनरी ठीक ही रानी बनकर ही रानीपन के कारण ही हार गयी। अपने अम्बर की अप्सरा को उसने कभी उन्नग्न नहीं किया। मदनिका औशीनरी को बतलाती है कि आदि-काल से पुरुष नारी का वक्षस्थल चाहता है। निपुणिका संकेत से औशीनरी को यह याद दिलाती है कि महाराज साधारण नर नहीं हैं। अप्सरा सहज ही उन्हें मोह नहीं सकती है।

> 'महाराज भी क्या कोई पुरुष नर साधारण हैं
> जिनका चित्त अप्सराएँ कर सकतीं सहज हरण हैं?
> कार्तिकेय सम शूर रूपवानों के गुरु सम ज्ञानी
> रवि-सम तेजवन्त सुरपति के सदृश प्रतापी मानी
> सागर-सदृश संग्रही व्योमवत् मुक्त, अमल जिन त्यागी
> कुसुम-सदृश मधुमय मनोज्ञ कुसुमायुध-से अनुरागी।
> ऐसे नर के लिए न वामा क्या कुछ कर सकती है?
> कौन वस्तु है जिसे नहीं चरणों पर धर सकती है?

पर औशीनरी अपनी भूल समझ नहीं पाती है। वह निपुणिका को यह उत्तर देती है—

> 'अरी कौन है द्रव्य जिसे मैं अब तक कर न सकी हूँ?
> कौन पुष्प है जिसे प्रणय-वेदी पर धर न सकी हूँ?[2]

औशीनरी यह नहीं जानती है कि पति भी अपनी पत्नी से कुछ चाहता है। वह अपने पति को केवल 'आधार' समझती है। वह सहचरी नहीं मात्र अनुचरी बन कर रह जाती है। अपने अधिकार को वह स्वयं खो देती है—

---

१ उर्वशी ३६
२ वही ३६
वही ३६

'पति के सिवा योषिता को कोई आधार नहीं है।'[1]

पति जहाँ केवल पत्नी का आधार बन जाता है, वहाँ नारी का कामिनी रूप छिप जाता है। तब उस नारी के आँसुओं को कैसे धोया जा सकेगा!

औशीनरी अपनी सीमा तब समझ सकी जब समझने का कोई मतलब नहीं रहा। औशीनरी पुरुरवा को वह भावमय आहार नहीं दे पायी जिसकी उसे नितान्त आवश्यकता थी—

> 'हाय सती! मैं ही कदर्य दोषी अनुदार कृपण हूँ
> केवल शुभ कामना मंगलैषा से क्या होता है?
> मैं ही दे पायी न भावमय वह आहार पुरुष को
> जिसकी उन्हें अपार क्षुधा उतनी आवश्यकता थी।[2]

सिर धुनती हुई वह कहती है—

> जीत नहीं वे जो लहरों पर मचल-मचल ।चलती थी
> उड़ सकती थी खुली धूप में मेघों भरे गगन में
> हारी मैं इसलिए कि मेरे व्रीड़ा-विकल दृगों में
> खुली धूप की प्रभा किरण कोलाहल की मरती थी।[3]

औशीनरी के ठीक विपरीत सुकन्या को पुरुष की प्रकृति का सूक्ष्म ज्ञान है। पुरुष अपने ही मन की तरंग से हार जाता है। बाहर के शत्रु से उसे कोई खतरा नहीं होता है। वह पराजित होता है अपने ही अभ्यंतर में प्रच्छन्न शत्रु से। सुकन्या औशीनरी को कहती है—

> पर के फेंके हुए पाश से पुरुष नहीं डरता है
> वह, अवश्य ही काट फेंकता उसे बाहु के बल से।
> पर, फँस जाता जभी वीर अपनी निर्मित उलझन में
> निकल भागने की तब उसको राह नहीं मिलती है।'[4]

इसीलिए गृहस्थ नारी का दायित्व गुरुतर है। उसे क्षण-क्षण सचेष्ट रहना है। पुरुष की आत्मा में उठने वाली पीड़ा की प्रत्येक तरंग का उस

---

१ उर्वशी ३१
२ वही १६०
३ वही १५६
४ वही १६१

ज्ञान होना चाहिए। हर घाव पर उसे मलहम लगाना है। सुकन्या औशीनरी को कहती है—

> 'इसीलिए, दायित्व गहन दुस्तर गृहस्थ नारी का।
> क्षण-क्षण सजग अनिद्र-दृष्टि रखना उस होता है
> अभी कहाँ है व्यथा ? समर से लौटे हुए पुरुष को
> कहाँ कमी है प्यास प्राण में काँटे कहाँ चुभे हैं ?'[1]

दिनकर ने औशीनरी के दाम्पत्य की असफलता का अच्छा विश्लेषण किया है। उन्होंने परम्परामुक्त रूप से भारतीय नारी के साथ सहानुभूति प्रकट कर पाठक की भावना को 'एक्सप्लाइट' नहीं किया है। यही काम—एक्सप्लाइटेशन—गुप्त जी ने यशोधरा में किया है। गुप्त जी ने तो केवल भारतीय नारी के करुण रूप का चित्रण किया है। आँचल के दूध को आँखों का खारा पानी खाद समझता है, यह तो ठीक है। किन्तु, वे कौन से कारण हैं जिससे इस देश के हट्टे-कट्टे नवयुवक असमय ही सन्यास ग्रहण करते रहे गुप्तजी इसका विश्लेषण न कर सके। यह वैज्ञानिक दृष्टि उनके पास नहीं है। यह काम कदाचित् पहली बार हिन्दी कविता में दिनकर ने किया है।

औशीनरी हिन्दी कविता का पहला ट्रेजिक पात्र है। गुप्तजी की यशोधरा ट्रेजिक पात्र नहीं बन सकी है। यह बात दूसरी है कि उसका जीवन ट्रेजिक है। पाप की पराजय से जो नाटक समाप्त होता है वह सुखांत होता है। पुण्य की पराजय ट्रेजडी को जन्म देती है। ट्रेजिक पात्र की विशेषता यह होती है कि आदमी वह भला होता है, बुरा काम वह करना नहीं चाहता है। पर उसके चरित्र में कुछ ऐसे दोष होते हैं जो अंतत: उसके पतन का कारण बनते हैं। हम उस समय यही कहते हैं कि यह आदमी बड़ा अच्छा था वरन उसमें यह त्रुटि न रहती। ट्रेजिक पात्र कहीं-कहीं एकाकी होता है। उसमें आत्मविश्लेषण की शक्ति नहीं रहती है। औशीनरी की ट्रेजडी उसके चरित्र से जनमी है। वह अपनी त्रुटियों का परिमार्जन नहीं कर पाती। अंत में पछता-पछता कर रह जाती है—

---

१ उर्वशी १६१

पति के सिवा योषिता को कोई आधार नहीं है।[1]

पति जहाँ केवल पत्नी का आधार बन जाता है, वहाँ नारी का कामिनी रूप छिप जाता है। तब उस नारी के आँसुओं को कैसे रोका जा सकेगा!

औशीनरी अपनी सीमा तब समझ सकी जब समझने का कोई मतलब नहीं रहा। औशीनरी पुरूरवा को वह भावमय आहार नहीं दे पायी जिसकी उसे नितान्त आवश्यकता थी—

> हाय सखी! मैं ही कदर्य दोषी अनुदार कृपण हूँ
> केवल शुभ कामना मंगलैषा से क्या होता है?
> मैं ही दे पायी न भावमय वह आहार पुरुष को
> जिसकी उन्हें अपार क्षुधा उतनी आवश्यकता थी।[2]

सिर धुनती हुई वह कहती है—

> 'बीत गयीं वे जो लहरों पर मचल-मचल चलती थी
> उड़ सकती थीं खुली धूप में अंगों भरे पवन में
> हारी मैं इसलिए कि मेरे पीड़ा विकल क्षणों में
> खुली धूप की प्रभा किरण कोलाहल की गढ़ती थी।[3]

औशीनरी के ठीक विपरीत सुकन्या को पुरुष की प्रकृति का सूक्ष्म ज्ञान है। पुरुष अपने ही मन की तरंग से हार जाता है। बाहर के शत्रु से उसे कोई खतरा नहीं होता है। वह पराजित होता है अपने ही अभ्यंतर में प्रच्छन्न शत्रु से। सुकन्या औशीनरी को कहती है—

> पर के फेंके हुए पाश से पुरुष नहीं डरता है
> वह अवश्य ही काट फेंकता उसे बाहु के बल से।
> पर फँस जाता कभी वीर अपनी निर्मित उलझन में
> निकल भागने की तब उसको राह नहीं मिलती है।[4]

इसीलिए गृहस्थ नारी का दायित्व दुर्वह है। उसे क्षण-क्षण सचेष्ट रहना है। पुरुष की आत्मा में उठने वाली पीड़ा की प्रत्येक तरंग का उसे

---

१ उर्वशी ६६
२ वही १६०
३ वही १६१
४ वही १६६

ज्ञान होना चाहिए। हर घाव पर उसे मरहम लगाना है। सुकन्या औशीनरी को कहती है—

'इसीलिए दायित्व महत् दुस्तर गृहस्थ नारी का।
क्षण-क्षण सजग अनिद्र-दृष्टि देखना उसे होता है
अभी कहाँ है व्यथा? समर से लौटे हुए पुरुष को
कहाँ लगी है प्यास, प्राण में काँटे कहाँ चुभे हैं?'

दिनकर ने औशीनरी के दाम्पत्य की असफलता का अच्छा विश्लेषण किया है। उन्होंने परम्परामुक्त ढंग से भारतीय नारी के साथ सहानुभूति प्रकट कर पाठक की भावना को 'एक्सप्लाइट' नहीं किया है। यही काम—एक्सप्लाइटेशन—गुप्त जी ने यशोधरा में किया है। गुप्त जी ने तो केवल *भारतीय नारी के करुण रूप का चित्रण किया है। आँचल में दूध को* आँखों का खारा पानी फाड़ डालता है, यह तो ठीक है। किन्तु, वे कौन से कारण हैं जिससे इस देश के हट्टे-कट्टे नवयुवक असमय ही सन्यास ग्रहण करते रहे, गुप्तजी इसका विश्लेषण न कर सके। यह वैज्ञानिक दृष्टि उनके पास नहीं है। यह काम कदाचित् पहली बार हिन्दी कविता में दिनकर ने किया है।

औशीनरी हिन्दी कविता का प्रथम ट्रैजिक पात्र है। गुप्तजी की यशोधरा ट्रैजिक पात्र नहीं बन सकी है। यह बात दूसरी है कि उसका जीवन ट्रैजिक है। पात्र की पराजय से जो नाटक समाप्त होता है, वह दुखांत होता है। पुरुष को पराजय ट्रेजडी को जन्म देती है। ट्रैजिक पात्र की विशेषता यह होती है कि आदमी वह भला होता है, बुरा काम वह करना नहीं चाहता है। पर, उसके चरित्र में कुछ ऐसे दोष होते हैं जो अंतत उसके पतन का कारण बनते हैं। हम उस समय यही कहते हैं कि यह आदमी बड़ा अच्छा था अगर उसमें यह त्रुटि न रहती। ट्रैजिक पात्र कहीं-कहीं एकांगी होता है। उसमें आत्मविश्लेषण की शक्ति नहीं रहती है। औशीनरी की ट्रेजडी उसके चरित्र में अन्तर्निहित है। वह अपनी त्रुटियों का परिमार्जन नहीं कर पाती। अंत में अकुला-पछता कर रह जाती है—

---

१ उर्वशी १६१

पछताती हूँ हाय, रक्त-आवरण फाड़ शीघ्र का
व्यथित होने दिया नहीं क्यों मैंने उस ममता को
जो केवल अप्सरा नहीं, मुझमें भी छिपी हुई थी ?[1]

यही तो उसके जीवन की ट्रेजडी है। औशीनरी पुरुरवा की ही तरह हिन्दी कविता के इतिहास का एकदम नया अध्याय है। दिनकर अब समझने लग गए हैं कि दुनिया के करघे में जो वस्त्र बुना जाता है वह केवल ताना और भरनी नहीं है। जीवन की सभी रेखाएँ ऋजु नहीं होती हैं। पुण्य की सदा विजय ही नहीं होती है तथा पाप हमेशा हारता ही नहीं है। आवश्यक नहीं कि पुण्य की पूजा ही की जाय और पाप को वर्जित ही किया जाय। औशीनरी कवि की इसी विकास जीवन-दृष्टि की कुक्षि से जनमी है— कवि ने औशीनरी के वात्सल्य का चित्रण कर उसकी आत्मा की हाहाकार को ही प्रकारान्तर से बतलाया है। अपने तपते हुए आँगन में आयु के रूप में वह तुलसी का पौधा ही लगाती है।

आलोचकों ने इस बात पर विचिकित्सा की है कि पुरुरवा के मंच से हट जाने पर औशीनरी का लाना और उसे उतना स्थान देना कहाँ तक उचित है। अधिकांश आलोचकों ने इसके अनौचित्य पर ही प्रकाश डाला है। किन्तु, औशीनरी की ट्रेजडी वाली बात पर ध्यान रखें तो आक्षेप बेकार जान पड़ता है। दिनकर की औशीनरी हमारे पारिवारिक जीवन की ट्रेजडी का आख्यान है यही उसकी मौलिकता है। यही उसकी विशेषता है।

उर्वशी नाद

श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार, कवि का अभिप्रेत विषय उर्वशी है—उद्दाम मानस वेग।[2] सम्पूर्ण रूपक को स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं—'उर्वशी नाद का प्रतिनिधित्व करती है, पुरुरवा क्रिया का और औशीनरी प्रतिक्रिया का। नाद का ही आगम शास्त्रीय नाम 'इच्छा' है। सृष्टि के पूर्व ब्रह्मा के मन में 'एकोऽहम् बहुस्यामि' की कामना हुई थी। यही काम है उर्वशी इसी का प्रतीक है। वह तो सृष्टि की प्राणधारा ही है। इसी के संबंध में पुरुरवा कहता है—

१ उर्वशी १२१
२ दिनकर सृष्टि और दृष्टि २१५

में पुरूरवा कहता है—

जब से तुम आयी पृथ्वी कुछ अधिक मुदित लगती है
शैल समझते हैं, उनके आंगों में जो धारा है
बहती है पहले से वह कुछ अधिक रसवती होकर
जब से तुम आयी धरती पर फूल अधिक खिलते हैं
दौड़ रही कुछ नयी दीप्ति सी शीतल हरियाली में।'[1]

पुरुष के मन में बसने वाली इसी नारी को युग ने 'एनिमा' की संज्ञा भी दी है। यह वह कल्पना किशोरी है जो प्रत्येक पुरुष के हृदय में निवास करती है।[2]

रूप-चित्रण

उर्वशी का रूप चित्रण अत्यन्त ही बारीक कविता का उदाहरण है और यहाँ कवि की सरस्वती अपने प्रकर्ष के साथ राजती है। यह रूप वर्णन निष्कम्प और धीर निष्कलुष है। क्वाचित् रूप में पवित्रता का समावेश कर कवि ने उस कामाध्यात्म को सिद्ध करने का माध्यम बनाया है। उर्वशी के रूप चित्रण में ऐसे विशेषण लाए गए हैं जिनसे वासना की तीखी गन्ध नहीं निकलती है। कवितार्थ में विशेषण (साथ ही बिम्ब भी) कवि के मनोरंजन के आभ्यन्तरिक रहस्यों के उद्घाटन का साधन होते हैं। विशेषणों का चुनाव कवि अनजान रूप से करता है और उन विशेषणों से कवि की प्रकृति का उद्घाटन होता है। विशेषण कवि-प्रतिभा के निकर्ष हैं। इस दृष्टि से दिनकर को अद्भुत सफलता मिली है। उर्वशी के रूप का सादृश्य वह विराट प्रकृति में ढूँढते हैं। प्रकृति में जो भी रमणीय है, मादक है, साथ ही निष्कलुष और स्वच्छ है, वह उर्वशी के रूप से सादृश्य के योग्य है। फूल सृष्टि के सबसे सुकुमार और निष्कलुष उपकरण हैं? पवित्रता की जैसे वे जन्मभूमि हैं। दिनकर उर्वशी के रूप का सादृश्य-नारी रूप का सादृश्य अधिकतर फूल में ही पाते हैं। तृतीय अंक में वह कहते हैं—

'इन कपोलों की ललाई देखते हो?
और अधरों की हँसी वह कुन्द-सी जुही-जैसी सी?

---

१ उर्वशी ७५
२ विस्तृत विवरण के लिए 'कलात्मक पक्ष' नामा परिच्छेद देखिए।

६

और चंपक-यष्टि-सी यह देह स्वच्छ पुष्पाभरण से
स्वर्ग की प्रतिमा कला के स्वप्न-सांचे में ढली सी ?[1]

अवश्य ही यह उर्वशी का रूप चित्रण नहीं है एक सामान्य कथन है, किसी भी रूपसी नारी के सम्बन्ध में सभी रूपसी नारियों के सम्बन्ध में। पर ध्यान देने की चीज है, कवित्व की स्वच्छता। पहली पंक्ति में कोई भी उपमा नहीं दी गई है फिर भी पंक्ति पूरी है। सच तो यह है कि कवि उपमा देता ही क्या ? उसका मन कहीं ठाँव नहीं पा सका। कोई भी लाली नारी के कपोलों की लाली से होड़ नहीं ले सकती है। नारी के कपोलों पर छायावाली दर्शक के हृदय पर भी छा जाती है और मन अनुराग के समुद्र में डूबने लगता है। अतः कवि कितनी ढिठाई से पूछता है इन कपोल की ललाई देखते हो ? फिर अधरों के कगारों में बहने वाली हँसी कुन्द और जुही की कली सी स्वच्छ है। यहाँ कुन्द और जुही की कली की उज्ज्वलता ही अभिप्रेत नहीं है। अभिप्रेत यह भी होता है कि हँसी निरभ्रम है निष्कलुष है हँसी कुन्द भी जुही की कली सी पर देह चंपक की यष्टि सी —पीताभ कनकाभ। देह पर पुष्पों का आभरण पुनः यौवन का प्रतिबिम्ब। यहाँ स्वच्छ' कितना व्यंजक है। पुष्प-बिम्बों की भावना में एक विलक्षण मादकता तो उत्पन्न की ही है साथ ही निष्कलुष पावनता भी वहीं से जगती है। पुष्प-बिम्बों के अतिरिक्त और किसी भी तरह आभरण यह उपलब्धि संभव नहीं है।

उर्वशी का रूप-चित्रण उच्च-कोटि की प्रतिभा की देन है और संपूर्ण उर्वशी में बिखरकर ऐसे स्थलों पर अभिव्यंजना की सामर्थ्य प्रदर्शित कर सके है। आधुनिक काव्य में सभी दृष्टियों से उसकी तुलना केवल श्रद्धा के रूप वर्णन से की जा सकती है। वही तन्मयता वही पवित्रता वही कल्मषहीनता। पुरूरवा उर्वशी को देखकर विस्मृति के जिस सुधा सिंधु में डूब जाता है उसका वर्णन भाषा का चमत्कार है—

और तब सहसा
न जानें, ध्यान खो जाता कहाँ पर।[2]

---

१ उर्वशी ५२
२. वही ५२

समागम के तन्मय क्षणों में जब सभी बाँध तोड़कर पुरुष का प्यार जगता है तब पुरुष का ध्यान कहाँ खो जाता है? क्या किसी अंग विशेष में? क्या ग्रीवा नत में? या बंकिम कटाक्ष में? या मोहक उरोजों में? या सुगंभीर नाभी में? या अरुणाभ कपोलों पर? या प्रेम सुधा के पार? कौन बतला सकता है? इस मनोभूमि को न जानें ध्यान खो जाता कहाँ पर। कितनी सफाई से व्यक्त करता है। फिर, यहाँ प्रश्न बाधक भी तो नहीं है। पुरूरवा प्रश्न पूछता ही नहीं है। प्रश्न तब पूछा जाता है जब कोई उत्तर भी हो। यहाँ उत्तर की अपेक्षा भी नहीं है एक विस्मय है, प्रसन्न विस्मय। आगे की पंक्तियाँ हैं—

'सत्य ही रहना नहीं यह ज्ञान
तुम कविता कुसुम या कामिनी हो।

पुरूरवा उस मन स्थिति में पहुँच गया है जहाँ नारीत्व के कई आयाम एक साथ महसूस होते हैं। नारी में आनन्द की परत अनेक हैं और प्रत्येक परत का अपना रस है। एक स्थिति वह होती है जब नारी पुरुष को उपासना की चीज दीखती है। तब पुरुष नारी को भूमा की तप सिद्धि का पर्याय मानता है। यह कविता कदाचित् प्रार्थना की कविता' का वाचक है। इससे पहले कवि लिख चुका है—युवती नारी नहीं प्रार्थना की कविता है[1]। इसी प्रकार नारी को कुसुम' समझना आनंद की दूसरी परत है। रोमांटिक प्रेम नारी को कोमल रखने की वस्तु समझता है। कुसुम' चाक्षुष प्रत्यक्षीकरण का सर्वोत्तम उपकरण है। पुन रोमांटिक प्रेम की निष्कलुषता भी कुसुम से ही सिद्ध होती है। किन्तु, नारी को कुसुम समझना एक मन स्थिति है वह प्रेम की चरम परिणति है। नारी रूप की चरम यथार्थ है उसका कामिनी वाला रूप। प्रेम जब शरीर के धरातल पर उतरता है, उसकी सार्थकता तब सिद्ध होती है। यही आनन्द की तीसरी परत है। दिनकर सभी परत पर अपना चरण रख सके हैं इसमें हमें सन्देह नहीं है। वे एकांगी तो नहीं हैं, फिर भी अभिव्यंजना निष्पाप है।

पुरूरवा की तन्मयता निस्सीम है। वह उर्वशीमय हो गया है। वह कहता है।

---

१ उर्वशी ५८
२ वही ५८

भारती की ज्योति को मुख में समेटे
मैं तुम्हारी ओर अपलक देखता एकांत मन से
रूप के उद्गम अगम का भेद गुनता हूँ।'[1]

उर्वशी की स्थूल देह को कवि ने 'भारती की ज्योति' बना दिया है। समागम के क्षणों में पुरुष की बाँहों में आकर सिमट सिकुड़ जाने वाली तन्वंगी रूपसी और भारती के समय भरी हुई बाँहों के समय में पूजा की ज्योति इन दो विपरीत स्थितियों का यह कितना सूक्ष्म समीकरण है। फिर, पुरुष का एकान्त मन से अपलक निहारना अनमोल है। 'एकान्त मन' ऐसा मन जहाँ उस समय केवल वही भारती की ज्योति जल रही है और कुछ नहीं है। यह 'एकान्त मन' केवल एक ही विधि-क्रिया में उलझा है कि ऐसा रूप कहाँ से आया? फिर पुरूरवा अपनी अंक-परिताप में पड़ा उर्वशी को सूँघता है, पाता है 'साँस में सौरभ'। साँस में सुरभि फूटती है। देखता है—वर्ण में पायस भरा है। बस पीतमय (Lyrical) है, जैसे हर भंगिमा से संगीत फूट रहा है। किस प्रकार कवि ने चाक्षुष प्रतिरूप का घ्राणक्रिया का विषय बना दिया है। स्वाभाविक है कि रूप की भीनी लहर से वह प्राण को खींचता। प्राण का खींचना कितना आह्लादक है! अन्त में पुरूरवा उर्वशी के 'रूप का संगीत' सुनता है। उर्वशी का रूप—उसका सारा व्यक्तित्व है, उसके नारीत्व समग्र चुम्बक है, उसका रूप, उसकी आत्मा सब कुछ है। अतः वह 'रूप का संगीत' सुनता है। प्रतीकवादी अभिव्यंजना के जौहर यहाँ खुल कर प्रकट हुए हैं।

उष्ण हृदय की पुकार

उर्वशी निर्जीव बुद्धि की तुलना में उष्ण हृदय की पुकार है। उसका समग्र जीवन प्रकृति से एकाकार है। वह प्रकृति ही है। आधुनिक सभ्यता बन्ध्या है। बुद्धि के अजीर्ण से मनुष्य के हृदय के रक्त-बिन्दु सूखते जा रहे हैं। आज के मनुष्य का समग्र जीवन-दर्शन ही कृत्रिम हो गया है। उसका आक्रोश निर्जीव होता है, उसका प्रेम शिथिल और उसके विरह में कोई उद्दामता नहीं होती है। प्रकृति के साथ एकाकार होना ब्रह्मचर्य की महिमा का लक्षण नहीं है। निवृत्तिमार्गी धर्मों ने प्राकृतिक जीवन का विरोध किया

---
१ उर्वशी ५२

और मनुष्य पर प्रतिबन्ध लगाए। यह भ्रम फैलाया गया कि जो जीवन का रस भोगता है, वह ईश्वर से दूर हट जाता है। इस विश्वास ने धर्मे-धर्मे मनुष्य को अपनी कुण्डली में लपेट लिया और मनुष्य असहज बनने लगा। ब्रह्मचर्य मनुष्य की असहज वृत्ति है। उर्वशी पुरूरवा के ठीक विपरीत क्रियाहीन नारी है। उसे कोई झिझक नहीं है। वह निर्द्वन्द्व होकर धरती का रस मानना चाहती है। वह नहीं मानती कि जो नारी नर को जान जाती है उसके लिए परम सत्ता का ज्ञान असम्भव है और न वह यह मानती है कि जो पुरुष किसी रमणी को आलिंगन में बाँध चुका है उसकी ऊर्ध्वमुखी यात्रा अवरुद्ध हो चुकी है। वह झुँझला कर पुरूरवा से कहती है—

किसने कहा तुम्हें, जो नारी नर को जान चुकी है,
उसके लिए असम्भव ज्ञान हो गया परम सत्ता का।
और पुरुष जो आलिंगन में बाँध चुका रमणी को,
सदा काम को भेद गगन में उठने योग्य नहीं है।[1]

यह प्रकृति परमेश्वर तक पहुँचने का पथ है, कपिल के सांख्य दर्शन की भाषा में उर्वशी कहती है—

'किसने कहा तुम्हें परमेश्वर और प्रकृति, ये दोनों
साथ नहीं रहते जिसको भी ईश्वर तक जाना है,
उसे तोड़ लेने होंगे सारे सम्बन्ध प्रकृति से
और प्रकृति के रस में जिसका अन्तर रमा हुआ है
उसे और जो मिले किन्तु परमेश्वर नहीं मिलेगा।[2]

बुद्धि के भीत दर्शन ने निर्वाण और संसार को परस्पर विरोधी बतलाया। मनुष्य का हृदय यह नहीं मानता है। हृदय के अतल तल से उठने वाली पुकार असत्य कैसे हो सकती है। रुधिर ही हमारा जीवन है। उर्वशी मानती है कि निर्वाण और संसार एक दूसरे से टकराते नहीं हैं। मोक्ष का प्रकृति से भिन्न कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। जीवनमुक्त की पहचान यह

१ उर्वशी ७०
२ वही, ७०

नहीं है कि वह कितना संयमी है, बल्कि यह कि उसका जीवन कितनी दूर तक प्रकृति से समरस है जीवनमुक्ति नैसर्गिक जीवन जीता है। वह झरनों की तरह सहज होता है, वायु में झूमने वाली डालियों की तरह मस्त होता है, पक्षियों की तरह प्रसन्न होता है और बादलों की तरह अटखेली करता निश्चिन्त होता है। उपम मनुष्य की दैविक पुकार है। बुद्धि इसकी महिमा क्या खाक समझेगी—

> भृकुटिपुर पर उत्तप्त श्वास का स्पर्श और अधरों पर
> रसना की गुदगुदी, अवाचित लिपि के अभिमाने में
> रसमाती, भटकती उँगलियों का संचरण त्वचा पर
> इस निगूढ़ कूजन का आशय बुद्धि समझ सकती है।'[1]

उर्वशी कहती है कि इसे रुधिर, समझता है। किसी वृक्ष की फुनगी से अचानक छू जाने पर भी उसमें एक कंपन उठता है। यही जीवन है।

उर्वशी राग है। इसी का आगम आत्मीय नाम 'काम' है। यही इच्छा है। यही राग हमारा जीवन है। राग के रथ पर चढ़कर ही मनुष्य पथ यात्रा को निकलता है। यह नहीं है तो जीवन में कोई रस नहीं है। उर्वशी पुरूरवा से कहती है—

> 'जब तक यह पावक शेष तभी तक भाव इन्द्र के अमल हैं,
> बारी-बारी से नहीं, स्वर्ग दोनों ही सुन्दर लगते हैं।
> मरकत की आली याद तभी तक कुंज अयुतों के बन में
> सूने धमधाम को देख चमली-जुही फूलती है मन में।
> सम्मा की याद तभी तक देवालय में तुम्हें सताती है
> औ' शयन-कक्ष में मूर्ति देवता की मन में फिर जाती है।
>
> × × ×
>
> सुरपति तब तक ही सावधान रहते बढ़कर अपमान का,
> अप्सरा स्वर्ग से आती है अधरों का चुम्बन पाने का।'[2]

---

१ उर्वशी, ६०

२ वही, ४६

यह पावक ही पौरुष की पहचान है जिसमें न तो प्रमाद केलि के क्षणों में नारी के अंगों को आटे की तरह गूँथ ही सकता है और न विजन का मधु ही चुरा सकता है। प्रेम पुरुष के आलिंगन में नहीं बसता है। वह उसकी आँखों से टपकने वाले क्षीर श्रृंगार का ही दूसरा नाम है। यह रस दृष्टि ही जीवन है। यौवन का रस भी मन के मुक्ता-कुंज से आता है। इस रस दृष्टि की महिमा औशीनरी भी समझती है—

'वह अवलोकन पुण्य नयन की जिससे बन जाती है
क्रीड़ा पाकर जिसे कुमारी युवती बन जाती है।
अति पवित्र निर्झरी क्षीरमय दृग की वह सुखकारी
जिसमें कर अवगाह सती फिर हो उठती है नारी।'[1]

औशीनरी जिसका अभाव महसूस करती है, उर्वशी ने वही वस्तु पुरूरवा को दिया। इसीलिए उर्वशी की अप्सरा औशीनरी की सती को परास्त करती है। प्रत्येक नारी में एक अप्सरा बसती है। पुरुष इसी अप्सरा से प्रेम करता है। उर्वशी की यह अप्सरा अत्यन्त प्रबल है साधक भी। उसे कोई भ्रान्ति नहीं है। वह उस सुख को निश्चिंत होकर भोगना चाहती है जो सुख युवती नारी को पुरुष की चट्टान सी बाहों में दबकर मिलता है। तृतीय अंक में प्रेम का एक विलक्षण चित्र आया है। पुरूरवा आलिंगन-पाश में भी उसी शीत-महिमा की बात कर रहा है जो उर्वशी पारिजात द्रुम की सकंप टहनी से बाँध आयी है। तब उर्वशी उससे कहती है—

'पर, मैं बाधक नहीं जहाँ भी रहो, भूमि या नभ में,
वक्षस्थल पर, इसी भाँति मेरा कपोल रहने दो।
कसे रहो बस इसी भाँति उर पीड़क आलिंगन में
और जलाते रहो अधर-पुट को कठोर चुम्बन से।'[2]

लगता है, कि उर्वशी के अनुनय को पुरूरवा ने सुना और अवश की आसुरी शक्ति के आकुल आलोड़न में उसे पीस डाला। उर्वशी को कदाचित् मधुर दर्द होता है और वह अस्त-व्यस्त होती हुई कहती है—'किन्तु, आह।

---

१ उर्वशी १७
२ वही १२

यह 'आह ! कितना मधुमय है । तब वह कहती है—'माँ नहीं तनिक ता शिथिल करो बाँहों को संभोग के द्वार पर ठिठकी हुई नारी मिथ्येषणा से बचने का अनुनय-विनय करती है किन्तु पाठक भी समझता है कि इस मधु मिथ्येषणा में भी मर्मान्तक है शान्ति और आनन्द एक कारण है ।

रुमानी प्रेम

ग्रौशीनरी के विपरीत, उर्वशी का प्रेम रूमानी है । पश्चिमों ने रूमानी प्रेम के तीन तत्त्व बतलाये हैं—आवेग कल्पना और कोमलता । यह आवेग उर्वशी में पूरी प्रखरता से है । वह कहती है—

यदि आज कान्त का अंक नहीं पाऊँगी
तो शरीर को छोड़ पवन में निश्चय मिल जाऊँगी ।[१]

रूमानी प्रेम प्रेमी को उद्विग्न बना देता है । उसे न तो दिन में चैन मिलता है और न रात में । उसका समग्र चिन्तन एक ही दिशा की ओर प्रवाहित होने लगता है । प्रेम चेतना का अपरिहार्य अंग बन जाता है । इसका बड़ा ही प्रभावशाली वर्णन दिनकर ने यों किया है—

'लगता है कोई शोणित में स्वर्ण-तरी खाता है
रह रह मुझे उठा अपनी बाहों में भर लेता है ।
कौन देवता है जो यों छिप-छिप कर खेल रहा है
प्राणों में रस की अकम्प माधुरी उंडेल रहा है ।'[२]

हमारा प्राचीन काव्यशास्त्र इन पंक्तियों की ठीक-ठीक व्याख्या नहीं कर सकता है । शास्त्रों में निर्दिष्ट 'एकादशा' में इन्हें समाहित नहीं किया जा सकता है । यह तो रूमानी प्रेम का आवेग है । श्री रमाशंकर तिवारी ने इसके लिए 'शोणित-विप्लव' की संज्ञा दी है । भावाकुलता के अनुरूप कहीं कहीं तो दिनकर की अभिव्यंजना जादुई हो गई है । यथा—

---

१ उर्वशी २
२ वही २१
३ दिनकर की उर्वशी चौखम्बा प्रकाशन ।

निराकार मन की उमंग का रूप कहाँ ए पाऊँ
छूटे तन की धाम और मैं उत्तम उर महाऊँ।[1]

स्वामी प्रेम के भावन का इतना अच्छा वर्णन हिन्दी कविता में मैंने अन्यत्र नहीं देखा है।

चरित्र का विकास

उर्वशी का चरित्र तृतीय अंक तक प्रेमी के रूप में ही आया है। वह अभिसार करती है, दिनकर ने उसका चित्रण रूप-गर्विता नारी के रूप में ही किया है। श्री हजारी प्र० द्विवेदी लिखते हैं "प्रिया रूप में वह प्रचंड संभा है। छूती है झकझोर देती है पर पराई नहीं रुकी पकड़ में नहीं आती।"[2] चतुर्थ अंक में उसका ममत्व जगता है। यहीं वह स्वप्नि नारी का रौन्दता है। किन्तु, उसके चरित्र में वह कनक नहीं है जिसके कारण ही किसी पात्र को व्यक्तित्व मिलता है। तृतीय अंक तक की उर्वशी रति की उच्छल तरंग है जो मन में असीम कम्पन भर देती है और मन कम्पन के सरोवर में तैरने लगता है। किन्तु, उसके चरित्र में वह निखार नहीं है जिसके कारण ही किसी पात्र को महाकाव्यात्मक उदात्तता प्राप्त होती है। यह उदात्तता उसमें चतुर्थ अंक में आई है। मातृत्व प्राप्त कर अमित-वह्नि बन जाती है। उर्वशी यहाँ मातृत्व ही नारीत्व की चरम उपलब्धि है। इस अमित-वह्नि नारी का सर्वोपरि सत्तात्मक होता है। यही उनकी महिमा है। किन्तु, यह तो नियति की विडम्बना ही है कि नारी महिमामयी तब होती है जब यौवन का हिमालय ममत्व मयता है। श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी चतुर्थ अंक की अमित-वह्नि नारी के विषय में लिखते हैं— "माता रूप में वह सरस स्नातस्विनी है, रुक नहीं सकती पर थमी हुई, ठहरी हुई। इन दो रूपों के बीच न वह स्वप्नि नारी की छाया छू जाती है।"[3]

उर्वशी के व्यक्तित्व का निखार मानवीय ढंग से आया है। मनु जीवन स्थापित महा विशेषता है। क्योंकि वह आता है आकुल विवशता के सपने से।

---

[1] उर्वशी २१
[2] दिनकर सृष्टि और दृष्टि २२२
[3] वही २२२

मनुष्य की इस आकुल विपन्नता के सम्बन्ध में रवीन्द्रनाथ की पंक्तियों मे किंचित परिवर्तन कर यों कहा जा सकता है—जीवन में कितनी पूजाएं हैं जो पूरी नहीं हो पातीं कितने फूल हैं जो खिलने के पहले ही पृथ्वी पर भर जाते हैं, कितनी नदी हैं जो मरुभूमि के मार्ग में ही अपनी धारा खो बैठती हैं। उर्वशी की वेदना है, भरत का शाप। अनिंद्य रूपसी उर्वशी पुरुरवा के प्रणय में डूबी हुई है। किन्तु, जब उसे मातृत्व प्राप्त होता है तब उसकी वेदना उसे ग्रसने लगती है। या तो वह पुरुरवा को पा सकती है, या आयु को। वह भी तब तक जब तक कि उसका पति अपने पुत्र का मुंह नहीं देख। व्यक्ति नारी की यह पीड़ा ही उसके चरित्र को व्याप्ति देती है। व्यष्टि नारी का यह संघर्ष पति और पुत्र का संघर्ष है सुकन्या उर्वशी से कहती है—

कौन भामिनी है जो अंगज पुत्र और प्रियतम में
किसी एक को लेकर सुख से आयु बिता सकती है ?
कौन पुरन्ध्री तज सकती है पति के लिए तनय को ?
कौन सती सुत के निमित्त स्वामी को त्याग सकेगी ?[1]

उर्वशी में वास करने वाली कामिनी पति की उपेक्षा नहीं कर सकती है और उसमें वास करने वाली माता पुत्र को त्याग नहीं सकती है। इन्हीं दो बिन्दुओं के संगम पर उसकी करुणा का कवित्व मंडराता है। उसके जीवन की विडम्बना यह है कि—

हाय ! मला म मुझ अभागिनी भाग्य ग्रस्त नारी को
न तो प्राणप्रिय पुत्र न तो प्रियतम मिलने वाले हैं।[2]

उसके जीवन की यह ग्रासदी कम मार्मिक नहीं है। औशीनरी का तो अन्ततः आयु ही मिल गया किन्तु उर्वशी को न तो पुरुरवा का साहचर्य ही अक्षुण्ण रह सका और न आयु का सान्निध्य ही। वह एक ऐसी नारी है जो मरुभूमि के मार्ग में ही अपनी धारा खो बैठी है।

---

१ उर्वशी १२१
२. वही १२८

उर्वशी और श्रद्धा

उर्वशी में वह अशान्ति नहीं है जो अप्रमाद की श्रद्धा को सहज प्राप्त है पर श्रद्धा की जिजीविषा उर्वशी की तरह दुर्दमनीय नहीं है। उसका प्रमानक है, श्रद्धा सहज भीरु। उर्वशी रस लेती और देती है। श्रद्धा उस महनी है। श्रद्धा चूंकि पराशक्ति का प्रतीक बन जाती है, अतः उर्वशी उसकी तुलना में अधिक विश्वसनीय लगती है पर श्रद्धा वाली सहज उदात्तता का उसमें अभाव है। मानवी श्रद्धा के आचरण में स्वर्ग की चमक है, पर जो उर्वशी के आचरण में मानवी की ऊष्मा है। दोनों की प्रकृति एक नहीं कही जा सकती।

चरित्र की कुछ विशेषताएँ

उर्वशी की पारदर्शिता स्वर्लोक की आकाश का गरिमा मात्र ही वायु जैसी उसकी उन्मुक्तता ये सब उसके परिवेश के अंग हैं उसके व्यक्तित्व का अपरिहार्य अंग नहीं। उसकी वास्तविक कल्पना इससे भिन्न है। वह जैसे सिक्त है, नारी सुलभ आकर्षण से युक्त साथ ही उसकी प्रकृति में बड़ा कोई बनावट का नाम नहीं है। उसकी अभ्या की सरलता मोहक है और निर्दोष। क्रिया रूप में वह चंचल अल्हड़ और शोख है, माया और महती के रूप में उसका स्नेह अपार है। उसकी प्रत्येक आवाज उसकी अन्तरात्मा की प्रतिध्वनि है इसलिए उसके सौभाग्य का मधुजल उसके यौवन के पक्ष पर समानरूप बरसता है। अप्सरा की औपचारिक गरिमा उसकी कोई विवशता नहीं है। आँखों की मुस्कराहट या छलकने वाले आँसू, मुँह की मिठास कुछ-कुछी चमकें सहज और चपल भंगिमाएँ, ये सब निश्छल रूप में प्रकट होते हैं। यदि उर्वशी स्वर्ग की अप्सरा है, तो स्वयं अवश्य ही पृथ्वी की तरह सुन्दर होगा। वैसे उर्वशी का यह यह मानवी रूप सहज ही विश्वसनीय है। मानविता उर्वशी प्रकृति नहीं है। सहज स्वभाव उसकी विवशता है। जो कहती है प्रथम साफ-साफ। दिनकर की उर्वशी ही यह कह सकती थी—'हरण किया क्यों नहीं मान लेने में यदि अपयश था।'[१] उर्वशी की सबसे बड़ी चारित्रिक उपलब्धि प्रेम और कामना में उसकी स्नान-

---

१ उर्वशी ४५

दारी है। पुरुरवा से उसका प्रेम निश्चय ही रूप से सच्चा, तीव्र और पवित्र है। पहली बार जब उसने पुरुरवा को देखा था, "यही काम, अनंग, उस समय प्राणों पर बैठ गया था?"[1] से लेकर अंत में आयु के आने पर "उमड़ प्राण से कहीं कण्ठ में ज्वाला अटक गयी है।"[2] तक उसकी सचाई एकरस है। हिन्दी नायिकाओं की लम्बी परम्परा में यह कहने का साहस केवल उसी को है—

> "पढ़ो रक्त की भाषा को विश्वास करो इस लिपि का
> यह भाषा यह लिपि मानस को कभी न भरमायगी।"[3]

मरदानी औरत

विचारणीय यह है कि उर्वशी को यह सब कहने का साहस कहाँ से आया? अधिकांश नारियों की स्थिति तो प्रसाद की भाषा में यही रही है कि जब अन्तर्मन ही कहना चाहता है, तब बहिर्मन ना क्यों कहता देता है? अवश्य ही उर्वशी को यह कहने का साहस दिनकर की जीवन दृष्टि से आया है। दिनकर की कल्पना का मनुष्य 'अर्धनारीश्वर' है। वे लिखते हैं— अर्धनारीश्वर केवल इसी बात का प्रतीक नहीं है कि नारी और नर जब तक हैं तब तक दोनों अधूरे हैं, बल्कि इस बात का भी कि जिस पुरुष में नारीत्व नहीं वह अधूरा है, एवं जिस नारी में पुरुषत्व नहीं वह अपूर्ण है।[4] यानी मर्द पूरा तब होता है जब वह कुछ औरतानी हो और औरत पूरी तब होती है जब वह कुछ मरदानी भी हो। औरतानी मर्द और मरदानी औरत यही अर्धनारीश्वर की कल्पना है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से औशीनरी का चरित्र कुंठित व्यक्तित्व का उदाहरण है। वह औरतानी औरत का पूर्ण प्रतिनिधित्व करती है। उसी नारी में पुरुष की पुकार पर पूरी प्रतिक्रिया नहीं उत्पन्न होती है। औशीनरी उस कुंये प्रायण से उबर नहीं सकी वहीं नर-नारी कंधे मिलाकर चलते हैं, नर नारी के ललाट में कुंकुम लगाता है और नारी नर का फावड़ा उठा लेती है। उर्वशी रूपसी है, सुकुमार है, मादक है, तन्वी है पर उसमें धैर्य और साहस भी है।

---

१ उर्वशी ४१
२ वही ३६
३ वही ६१
४ वेणुवन ६

इसलिए जीवन की सचाई यह बीत जाती है। यहां दिनकर की कल्पना की मरदानी औरत है। इस दृष्टि से हिन्दी में दिनकर की उर्वशी अप्रतिम है। प्रसाद की श्रद्धा से उसकी कोई तुलना नहीं की जा सकती। उसकी निर्भीक साहसिकता ने उसे चरित्र की कोटि से ऊपर उठाकर व्यक्तित्व बना दिया है।

सामान्यतया कविता में नारियों का चित्रण सतही ही होता है। ऐसे कवि जिन्हें नारी के चरित्र में गहरी पैठ है बहुत कम हैं। शेक्सपियर निश्चय ही इस क्षेत्र में सर्वोपरि हैं जैसा कि वह प्रत्येक क्षेत्र में हैं, किन्तु विस्तार में तो नहीं पर गहराई में उसकी तुलना केवल वाल्मीकि से की जा सकती है। यह कला रेसीन में भी है हालांकि वह सीमित है किन्तु कालिदास में यह कला निस्सीम है, यद्यपि कि उसमें भी शेक्सपियर की वह प्रचुरता और व्यापकता नहीं है जो उसकी सहज विशेषता है। आधुनिक हिन्दी साहित्यकारों में यह कला प्रसाद की अपनी विशेषता है। दिनकर उस ऊंचाई के अधिकारी नहीं हैं, जहां शेक्सपियर, वाल्मीकि रेसीन कालिदास सहज ही पहुंच सके हैं। जयशंकर प्रसाद की व्यापकता और विराटता भी उन्हें नहीं मिली है। फिर भी उर्वशी का जो चित्रण उन्होंने किया है वह बुरा नहीं है।



रूपात्मक पक्ष

'उर्वशी' के सभी पात्र चरित्र भी हैं और प्रतीक भी दिनकर ने दोनों पक्षों को बड़ी सफलता से निभाया है।

प्रत्येक व्यक्ति, सबसे अधिक अपने से प्रेम करता है। आज का मनोविज्ञान बतलाता है कि आत्म रति की प्रवृत्ति बहुत ही प्रबल होती है। हमारी दिलचस्पी का सबसे बड़ा केन्द्र भी है। दूसरे की प्रेम कथा में इसलिए रस लेते हैं कि हम भी रति भाव से पूर्ण हैं। कविताओं में रूपात्मक पक्ष के उद्भव की यही मनोवैज्ञानिक पृष्ठ भूमि है। दिनकर ने लिखा है "कविताओं में हम जिस नारी का बखान सुनते हैं वह किसी की भी बेटी बहन या माता नहीं होती। वह तो भावात्मिका अशरीरी कल्पना की प्रतिमा है जिसके अंग पर उम्र के दाग नहीं लगते जो स्पर्श से परे रहती हमारे सपनों पर राज करती है।"[1] कहने का तात्पर्य यह है कि साहित्य में सभी नाम व्यक्ति सापेक्ष सम्बन्ध से मुक्त रहते हैं। पात्र हमारे विचार और भावना का प्रतीक बनकर आते हैं। साधारणीकरण का यही रहस्य है। वीरेन्द्र नारायण के शब्दों में "हम सभी अपनी प्रेमिका के बहाने अपनी कल्पना की नारी को ही प्यार करते हैं। अपनी पत्नी में हम जिसे प्यार करते हैं वही हमारे ससुर की बेटी नहीं होती।"[2] जो बात नारी के सम्बन्ध में कही जाती है वह सभी पात्रों के सम्बन्ध में कही जा सकती है। प्रत्येक पात्र को हम किसी भावना के प्रतीक के रूप में रखते हैं। 'उर्वशी' को निश्चय ही दिनकर ने एक रूपक काव्य (Allegory) के रूप में उपस्थित किया है।

उर्वशी

प्रत्येक पुरुष के हृदय में एक कल्पना किशोरी का निवास होता है। शरीर-जगत् की सुन्दरी तो उस कल्पना-किशोरी की झलक भर

१ धर्म नैतिकता और विज्ञान १२

२ दिनकर: सृष्टि और दृष्टि २४१

दिखाती है। यह रवीन्द्रनाथ के शब्दों में मात्र 'सुन्दरी' है रूपसी है, उर्वशी है—'नहमाता नहकन्या नहवधू सुन्दरि रूपसि, उर्वशी।' दिनकर ने चिरन्तन नारी (Universal woman) की कल्पना यहीं से की है। उर्वशी केवल नारी ही नहीं है वह सौन्दर्य की मानवी मूर्ति भी है। दिनकर ने उर्वशी और पुरूरवा को सनातन नर और सनातन नारी का प्रतीक माना है। उनके शब्दों में 'उर्वशी शब्द का कोषगत अर्थ होगा उत्कट अभिलाषा अपरिमित वासना इच्छा अथवा कामना।' उर्वशी का चित्रण भी कवि ने इसी रूप में किया है—

वक्ष स्थल पर इसी भांति मेरा कपोल रहने दो।
कसे रहो बस इसी भांति उर पीड़क आलिंगन में
और जलाते रहो अधर-पुट को कठोर चुम्बन से।[2]

पुनः दिनकर लिखते हैं 'उर्वशी चक्षु, रसना, घ्राण, त्वक तथा श्रोत्र की कामनाओं का प्रतीक है।'[3]

उर्वशी शब्द का अर्थ है 'हृदय में निवास करने वाली।' कवि ने उसे विश्व मानव के हृदय में निवास करने वाली सनातन नारी का पर्याय माना है। यथा—

जन-जन के मन की मधुर वह्नि प्रत्येक हृदय की उजियाली
नारी की मैं कल्पना चरम नर के मन में बसने वाली।[4]

वह नारी देहवती होकर भी अदेह रहती है। यह विश्व पुरुष के हृदय में ही निवास करती है—

मैं अदेह कल्पना मुझे तुम देह मान बैठे हो
मैं अदृश्य तुम दृश्य देखकर मुझको समझ रहे हो
सागर की आत्मजा मानसिक तनया नारायण की।[5]

---

१ उर्वशी (भूमिका) २१
२ वही ६५
३ वही ख
४ वही ६६
५ वही ६६

रूपात्मक पक्ष

'उर्वशी' के सभी पात्र चरित्र भी हैं, और प्रतीक भी दिनकर ने दोनों पक्षों को बड़ी सफलता से निभाया है।

प्रत्येक व्यक्ति, सबसे अधिक अपने से प्रेम करता है। आज का मनोविज्ञान बतलाता है कि आत्म रति की प्रवृत्ति बहुत ही प्रबल होती है। हमारी दिलचस्पी का सबसे बड़ा केन्द्र भी हैं। दूसरे की प्रेम कथा में इसलिए रस लेते हैं कि हम भी रति भाव से पूर्ण हैं। कविताओं में रूपात्मक पक्ष के उद्भव की यही मनोवैज्ञानिक पृष्ठ भूमि है। दिनकर ने लिखा है "कविताओं में हम जिस नारी का बखान सुनते हैं वह किसी की भी बेटी बहन या भार्या नहीं होती। वह तो मनोमिका अशरीरी कल्पना की प्रतिमा है जिसके अंग पर उम्र के दाग नहीं लगते जो स्पर्श से परे वही हमारे सपनों पर राज करती है।"[1] कहने का तात्पर्य यह है कि साहित्य में सभी नाम व्यक्ति सापेक्ष सम्बन्ध से मुक्त रहते हैं। पात्र हमारे विचार और भावना का प्रतीक बनकर आते हैं। साधारणीकरण का यही रहस्य है। नीरेन्द्र नारायण के शब्दों में हम सभी अपनी प्रेमिका के बहाने अपनी कल्पना की नारी को ही प्यार करते हैं। अपनी पत्नी में हम जिस प्यार करते हैं वही हमारे श्वसुर की बेटी नहीं होती।[2] जो बात नारी के सम्बन्ध में कही जाती है वह सभी पात्रों के सम्बन्ध में कही जा सकती है। प्रत्येक पात्र को हम किसी भावना के प्रतीक के रूप में देखते हैं। 'उर्वशी' को निश्चय ही दिनकर ने एक रूपक काव्य (Allegory) के रूप में उपस्थित किया है।

उर्वशी

प्रत्येक पुरुष के हृदय में एक कल्पना किशोरी का निवास होता है। शरीर-जगत् की सुन्दरी तो उस कल्पना-किशोरी की झलक भर

१ धर्म नैतिकता और विज्ञान ११

२ दिनकर: सृष्टि और दृष्टि २४१

दिखाती है। यह रवीन्द्रनाथ के शब्दों में मात्र 'सुन्दरी' है, रूपसी है, उर्वशी है—'नहमाता नहकन्या नहवधु स्तुमि सुन्दरी रूपसि उर्वशी। दिनकर ने विश्वजन नारी (Universal woman) की कल्पना यहीं से ली है। उर्वशी केवल नारी ही नहीं है वह सौन्दर्य की आद्या सृष्टि भी है। दिनकर ने उर्वशी और पुरूरवा को सनातन नर और सनातन नारी का प्रतीक माना है। उनके शब्दों में 'उर्वशी शब्द का कोषगत अर्थ होगा उत्कट अभिलाषा अपरिमित वासना इच्छा अथवा कामना। उर्वशी का चित्रण भी कवि ने इसी रूप में किया है—

> बँध स्वप्न पर इसी भाँति मेरा कपोल रहने दो।
> कसे रहो बस इसी भाँति उर पीड़क आलिंगन में
> और जलाते रहो अधर-पुट को कठोर चुम्बन से।[2]

पुनः दिनकर लिखते हैं 'उर्वशी चक्षु रसना घ्राण त्वक तथा श्रोत्र की कामनाओं का प्रतीक है।[3]

उर्वशी शब्द का अर्थ है हृदय में निवास करने वाली। कवि ने उसे विश्व मानव के हृदय में निवास करने वाली सनातन नारी का पर्याय माना है। यथा—

> जन-जन के मन की मधुर वह्नि प्रत्येक हृदय की उजियाली
> नारी की मैं कल्पना चरम नर के मन में बसने वाली।[4]

यह नारी रूपवती होकर भी अदृश्य रहती है। यह विश्व पुरुष के हृदय में ही निवास करती है—

> मैं अदृश्य कल्पना तुम्हें वह मान बैठे हो
> मैं अदृश्य तुम दृश्य देखकर मुझको समझ रहे हो
> सागर की आत्म-जा मानसिक तनया नारायण की।[5]

---

१ उर्वशी (भूमिका) २१
२ वही ६५
३ वही ५
४ वही ६६
५. वही ६३

यह तो नारी का कालजयी रूप है। अतीत और भविष्य सब की सीमा का यह अतिक्रमण कर जाती है। यह सनातन नारी हर पुरुष के हृदय में निवास करती है। स्वयं उर्वशी के शब्दों में—कब था ऐसा समय कि जब मेरा अस्तित्व नहीं था ?

कब आएगा वह भविष्य जिस दिन मैं नहीं रहूँगी ?
कौन पुरुष जिसकी समाधि में मेरी झलक नहीं है ?
कौन त्रिया मैं नहीं राजती हूँ जिसके यौवन में ?
कौन लोक कौंधती नहीं मेरी दामिनी जहाँ पर ?
कौन मेघ जिसका न सेज मैं अपनी बना चुकी हूँ ?
कहूँ कौन सी बात और रहने दूँ कथा कहाँ की ?
मेरा तो इतिहास प्रकृति की पूरी प्राण कथा है
उसी भाँति निःसीम असीमित जैसे स्वयं प्रकृति है।

इस सनातन नारी का जन्म विरत पुरुष की सनातन पीड़ा से होता है। ऐसा कोई हृदय नहीं जिसमें कामना की पुकार नहीं उठती है और कामना की इसी पुकार की टोह पर सनातन नारी तृषा शांत करने के लिए आती है। स्वयं इस सनातन नारी का प्रतीक उर्वशी अपने जन्म का कारण बतलाती हुई कहती है—

कामना तरंगों से अधीर
जब विरत-पुरुष का हृदय-सिंधु
आलोड़ित घूर्णित मथित होकर
अपनी समस्त बड़वाग्नि
कण्ठ में भरकर मुझे बुलाता है
तब मैं अपूर्व यौवना
पुरुष के निभृत प्राणतल से उठकर
प्रसरित करती निर्मल शुभ्र हेमाभ कांति
कल्पना लोक से उतर भूमि पर आती हूँ

---

१ उर्वशी १९

विजमिनी विश्व-नर को अपने उत्तुंग वक्ष
पर सुला थमित कल्पों को मधु सुलाती हूँ।[1]

दिनकर की उर्वशी इसी सनातन नारी का प्रतिनिधित्व करती है। देश और काल की सीमा का अतिक्रमण कर वह निःसीम प्रसार में जीती है। उसका आत्म परिचय यह है—

'मैं देश काल से परे चिरन्तन नारी हूँ।
मैं आत्मतन्त्र यौवन की नित्य नवीन प्रभा
रूपसी अमर मैं चिर युवती सुकुमारी हूँ।
तुम त्रिभुवन में अथवा त्रिकाल में कहीं कहीं भी हो
अम्बर में धैर्य धरो।
सरिता समुद्र गिरि वन मेरे व्यवधान नहीं।
मैं भूत भविष्यत्, वर्तमान की कृत्रिम बाधा से विमुक्त
मैं विश्व प्रिया।'[2]

इसी विश्व प्रिया के सम्बन्ध में रवीन्द्रनाथ ने कहा है—
'कोनो काले छिले नाकि मुकुलिका बालिका बयसी
हे अनन्त यौवना उर्वशी।
आधारि आगले बिरबे यौवन गठिता
पूर्ण प्रस्फुटिता।'[3]

विश्व प्रिया की यही कल्पना दिनकर का काम्य है। पुरूरवा भी कहता है—

एक पुष्प में सभी पुष्प सब किरणें एक किरण में
तुम संचित एकत्र एक नारी में सब नारी हो।
प्रतियुग की परिचिता रसाकर्षण प्रति मन्वन्तर का
विश्व प्रिया सत्य ही महारानी सब के सपनों की।[4]

१ उर्वशी, २१
२ वही १०
३ रवीन्द्र कविता कानन निराला १३१-३
४ उर्वशी, १०१

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार उर्वशी समष्टि चित्त की उद्दाम वेदना' का प्रतीक है। उन्होंने पुन उसे 'उद्दाम मानस वेग'[1] कहा है। समस्त रूपक को स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं 'उर्वशी भाव का प्रतिनिधित्व करती है पुरुरवा क्रिया का और औशीनरी प्रतिक्रिया का।' समष्टि में व्याप्त ब्रह्म की इच्छा को काम कहते हैं। उर्वशी, द्विवेदी जी के अनुसार, काम नारी का प्रतीक है। उनके शब्दों में कल्पारम्भ में अनेक काम्य वस्तुओं की भाँति उर्वशी की भी उत्पत्ति हुई थी। ऐसा कहा गया है कि व्यक्ति में जो मन है वह समष्टि चित्त का ही व्यष्टिगत रूप है। किसी दिन हिरण्यगर्भ नारायण जो समष्टि चित्त के प्रति देवता मान गए हैं। समाधि में लीन थे। उन्हीं के समाहित चित्त से मनोजन्मा देवता की भाँति इस मनोजन्मा नारी की उत्पत्ति हुई थी। अर्थात् उर्वशी समष्टि चित्त की उपज है। व्यष्टि चित्त में वह बराबर होती रहती है।[3]

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उर्वशी मानव मन की कामेच्छा या 'लिबिडो' का प्रतीक है। आध्यात्मिक दृष्टि से यह कामना-शिखा ईश्वर की जीवेच्छा है—

अथवा जब भव्य-सुषमा को रूपायित करने को
ऋषि सौंदर्य-समाधि बाँध तन्मय छवि के चिन्तन में

बैठे थे निष्पंद तभी नारी बन निकल पड़ी तुम
नारायण की महा कल्पना से एकाग्र मन से।[4]

इस प्रकार कविता में उर्वशी के स्थूल व्यक्तित्व के साथ-साथ सनातन नारी वाला रूप भी एकदम स्पष्ट है। माता के रूप में उर्वशी व्यष्टि नारी की सीमा स्पर्श कर लेती है। अत श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी का यह कहना ठीक लगता है कि 'उर्वशी काम नारी का पूरा प्रतिनिधित्व नहीं करती।'[5]

---

१ दिनकर सृष्टि और दृष्टि २१५
२ वही २१५
३ वही २११
४ उर्वशी ६२
५ दिनकर सृष्टि और दृष्टि २१२

पुरुरवा

जिस प्रकार उर्वशी सनातन नारी का प्रतीक है उसी प्रकार पुरूरवा सनातन नर का प्रतीक है।

यह पुरूरवा भी हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार 'सीमाबद्ध जीव है जो इस उद्दाम मानस वेग का शिकार है।'[1] उर्वशी की भूमिका में स्वयं कवि ने लिखा है 'पुरूरवा रूप रस गंध स्पर्श और शब्द से मिलने वाले सुखों से उद्वेलित मनुष्य है। पुरूरवा द्वन्द्व में है क्योंकि द्वन्द्व में रहना मनुष्य का स्वभाव है। मनुष्य सुख की कामना भी करता है और और उससे आगे निकलने का प्रयास भी।'[2] पुरूरवा का चित्रण कवि ने इसी रूप में किया भी है—

मैं मनुष्य कामना-वायु मेरे भीतर बहती है
कभी मंद गति से प्राणों में सिहरन-पुलक जगाकर
कभी डालियों को मरोड़ झंझा की दारुण गति से
मन का दीप बुझा कर तिमिराच्छन्न हृदय को।
किन्तु पुरुष क्या कभी मानता है तम के शासन को ?
फिर होता संधान तिमिर में दीपक फिर जलते हैं।[3]

सनातन नर का प्रतीक यह पुरूरवा जन्म जन्मान्तर से इसी सनातन नारी की खोज में बेचैन होकर घूम रहा था। उर्वशी के यह पूछने पर कि कौन पुरुष तुम ? पुरूरवा उत्तर देता है—

'जो अनेक कल्पों के अँधियाले में
तुम्हें खोजता फिरा तैरकर बार-बार मरण को
जन्मों के अनेक कुंजों वीथियों अरण्यों में
पर तुम मिली एक दिन सहसा जिस शुभ्र घड़ी पर
एक पुरुष में अमित युगों के स्वप्नों की माया-सी।[4]

---

१ दिनकर' सृष्टि और दृष्टि २१५
२ उर्वशी की भूमिका।
३ वही ६१
४ वही ७४

पुरूरवा हर युग में उर्वशी का चुम्बन रसिक पुरुष रहा है। यह तो अवश्य ही सनातन नर का ही पर्याय है जो हर युग में नारी के आकुंचित अधरों का चुम्बन लेता है—

जहाँ-जहाँ तुम किसी स्थान में ही मलयानिल बनकर
तुम्हें घेरता आया हूँ अपनी आकुल बाँहों से।
जिसके भी सामने किया तुमने कंचित अधरों को
लगता है मैं ही सदैव वह चुम्बन-रसिक पुरुष था।[1]

दिनकर आगे की पंक्तियों में इस सनातन नर के ही रूप को अधिक स्पष्ट करते हैं—

मेरी ही थी तृषा जिसे फूलों के कुंज-भवन में
जन्म-जन्म में तुम आलिंगन से हरती आयी हो।
कल्प-कल्प में तुम्हीं प्रणय उद्वेलित वक्षोजों पर
मधु पावकी आयी हो मेरे आर्त्त हगों का।[2]

इस प्रकार पुरूरवा के स्थूल रूप से भिन्न एक विश्व पुरुष का रूप भी उभरता है।

आयु

निरुक्त के अनुसार आयु का अर्थ भी मनुष्य ही होता है। दिनकर के शब्दों में इस दृष्टि से मनु और इड़ा तथा पुरूरवा और उर्वशी ये दोनों ही कथाएँ एक ही विषय को ध्वनित करती हैं। सृष्टि-विकास की जिस प्रक्रिया के कर्तव्य पक्ष का प्रतीक मनु और इड़ा का आख्यान है उसी प्रक्रिया का भावना पक्ष पुरूरवा और उर्वशी की कथा में कहा गया है।[3]

गंधमादन

गंधमादन भी काम के क्रीड़ा क्षेत्र का प्रतीक माना जा सकता है। यह एसा क्षेत्र है जहाँ नर-नारी समागम में किसी प्रकार का कोई व्यवधान नहीं होता है।

१ उर्वशी १०१
२ वही १०१
३ उर्वशी भूमिका ग

पुरुरवा-उर्वशी आख्यान पहले से भी अन्योक्ति परक माना जाता रहा है। सर विलियम विल्सन के अनुसार इस कथा की नायिका ऊषा है और नायक सूर्य। इन दोनों का मिलन प्रतिदिन कुछ ही क्षण के लिए होता है, फिर ये दोनों बिछुड़ जाते हैं। किन्तु, दिनकर का उद्देश्य ऋग्वेद के आख्यान की पुनरावृत्ति नहीं रहा है। उन्होंने उस आख्यान के सहारे सनातन नर और सनातन नारी की ही कथा कही है। उर्वशी में दिनकर अपने पात्रों का निर्वैयक्तिकता देने में सफल हो सके हैं। हम यह मानते हैं कि यह सफलता आंशिक ही है। तृतीय अंक ही वह भूमि है जहाँ ये दोनों पात्र किसी भी व्यक्ति विशेष की आख्या से मुक्त हैं। तीसरे अंक में प्रणय की समाधि में लीन दो प्राणी कोई भी नर-नारी हो सकते हैं। उसमें ऐसा कुछ भी नहीं है कि हम यह कह सकें कि यह व्यक्ति पुरुरवा ही है और यह उर्वशी ही है।

इस प्रकार उर्वशी एक रूपक-काव्य (Alleory) है।

काव्यालोचन की समस्या और उर्वशी

डा० भगवतशरण उपाध्याय ने 'कल्पना' अप्रैल १९६१ के अंक में 'उर्वशी' की जो आलोचना प्रस्तुत की उसकी व्यापक चर्चा हिन्दी-जगत् में हुई। कुछ लोगों ने 'कल्पना' के सम्पादकों को आकाश भरे पत्र लिखे, कुछ लोग प्रसन्न भी हुए। विवाद लम्बा चला है और हिन्दी के सभी प्रमुख साहित्यकारों ने अपना अभिमत प्रकट किया। किन्तु, जो बात सर्वथा महत्व पूर्ण थी उसकी चर्चा यथोचित स्पष्ट रूप से किसी भी लेखक ने न की। उस समीक्षा में कही गई बात ठीक है या गलत, विचारणीय यह नहीं है। विचारणीय यह है कि डा० भगवतशरण उपाध्याय ने जो कुछ भी कहा क्या वह काव्यालोचन का विषय हो सकता है? यदि वे तथ्य काव्यालोचन की परिधि में आते हैं, तो वे ठीक हैं, भले ही हम उनसे सहमत नहीं हों। किन्तु यदि वे काव्यालोचन की परिधि में नहीं आते हैं तो डा० भगवतशरण उपाध्याय ने एक साहित्यिक अपराध किया है।

इस आलोचना के अध्ययन से जो बात स्पष्ट रूप से उभरती है वह यह कि उपाध्याय जी ने काव्येतर मूल्यों को ही अपना निकष बना लिया। काव्येतर मूल्यों को ही महत्व देने के कारण वे पुस्तक के मूल्य की कटु भर्त्सना करते हैं, लेखक और प्रकाशक एक होने के कारण नये 'अद्वैतवाद' की उपहासास्पद प्रतिमा का निर्माण करते हैं और दिनकर के रेखा-चित्र की आलोचना करते हुए कृति के प्रतिपाद्य के साथ उसका सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास करते हैं। यह इसी काव्येतर मूल्य का परिणाम है कि वे व्यक्तित्व और कृतित्व को एक ही पार्श्वभूमि में देखने का प्रयास करते हैं। अच्छा होता कि उपाध्याय जी पुश्किन का दृष्टान्त न लाते। यह बात इसलिए नहीं कही जा रही है कि श्री कृष्णनाथ ने उनके मार्क्सवादी साहित्य के महान अध्ययन की कलई खोल कर रख दी बल्कि इसलिए कि इससे मार्क्सवादी मनोवृत्ति के बड़े ही निकृष्ट रूप का उद्घाटन होता है। श्री उपाध्याय जी का कृष्णनाथ जी का आभारी होना चाहिए कि पुश्किन के स्वरूप को उन्होंने भ्रष्ट

रूप में उपस्थित होने से बचा लिया है। यों यदि ऐसी बात ऐंगेल्स भी लिख गये होते तो वह अनुकरणीय आदर्श कैसे बन पाता? किन्तु, सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह उभरता है कि जो व्यक्ति पुस्तक न पढ़कर भूमिका लिखने के लिए श्री नेहरू की आलोचना करता है, उसे वही पुस्तक बिना पढ़े लेखक के पराक्रम पर राय देने का क्या अधिकार है? पुनः विहार यदि उपाधिवितरण की प्रतिद्वन्द्विता उभारता दिखाता है तो यह किस दृष्टि से काव्यालोचन की परिधि के अन्तर्गत आता है?

दूसरा प्रश्न जो उभर कर आता है वह यह कि पुराण-इतिहास द्वारा उपबृंहित कथा को परवर्ती लेखक किस रूप में उपस्थित करे? उपाध्याय जी का आक्षेप यह है कि दिनकर ने कथा को हू-बहू कालिदास से उठा लिया है। उनके अनुसार 'हिन्दी उर्वशी' संस्कृत 'विक्रमोर्वशी' का कथानुवाद है। बात ऐसी नहीं है। दिनकर ने पुरूरवा के स्वप्न प्रसंग द्वारा कालिदास की कथा को एक प्रबल मोड़ दिया है। ऐसा प्रतीकात्मक स्वप्न केवल आधुनिक युग का कवि ही सृजन कर सकता है। पुनः 'उर्वशी' की समाप्ति पर न तो कालिदास का प्रभाव है न अरविन्द का न रवीन्द्रनाथ का। वह दिनकर की जीवन-दृष्टि का परिणाम है। अतः हिन्दी 'उर्वशी' संस्कृत 'विक्रमोर्वशी' का कथानुवाद नहीं है। किन्तु, यदि होता ही तो क्या यह गलत होता? रामचरितमानस के कवि ने पौराणिक आख्यान का ही आधार ग्रहण किया। पाप भी नहीं है। तो क्या रामचरित मानस वाल्मीकि की रामायण या स्वयम्भू की रचना का ही कथानुवाद है? उपाध्याय जी यदि रामचरितमानस की आलोचना लिखते तो क्या यही बात लिख सकते थे? यदि कोई परवर्ती कवि पूर्ववर्ती कवि की कथा को उठा लेता है, तो एक अक्षम्य अपराध करता है ऐसा स्वयं उपाध्याय जी भी नहीं मानते। हिन्दी कवियों के तत्सम-व्यामोह के प्रसंग में दिनकर की भर्त्सना करते हुए अनजान रूप से वे आत्म-खंडन कर गए हैं। उन्हीं के अनुसार तीन विभिन्न सदियों में होने वाले अंग्रेजी के तीन महाकवियों—शेक्सपियर, ड्राइडन और शॉ प्रायः एक ही प्रसंग को एक ही प्रकार से अपने नाटकों—'ऐन्टनी एण्ड क्लियोपेट्रा', 'आल फार लव' और 'सीजर एण्ड क्लियोपेट्रा' में लिया है। क्या अंग्रेजी के इन तीन महाकवियों ने जो किया दिनकर को वह भी करने का अधिकार नहीं है? क्या इस दृष्टान्त का उपयोग केवल भाषा की दृष्टि से ही हो सकता है? क्या वे तीनों महाकवि ही हैं? उसी प्रकार समारोह प्रागल्भ्य'

वाले बिम्ब की कटु आलोचना करने में अमर्ष की कटुता आई गई है। स्वतन्त्र देश का कवि यदि जनता के प्रतिनिधि की हैसियत से राजधानी में रहता और माल पास्ट' देखता है, तो काव्यलोचन के प्रसंग में इस बात के उल्लेख का क्या औचित्य है ? उपाध्याय जी में यदि थोड़ी भी निरपेक्षता होती तो वे रुक कर जरा इस बिम्ब के सौंदर्य पर विचार कर लेते। सामान्यतः दिनकर ने रोमांटिक बिम्ब ही दिए हैं। किन्तु, यह वह स्थल है जहाँ स्थानीयत श्रेयता के स्तर पर ऊर्ध्व-पातित हो गई है। यहाँ चमत्कार केवल मानवीकरण का नहीं है। दिनकर रात्रि का अत्यन्त मादक रूप उपस्थित कर सकते थे किन्तु ऐसा उन्होंने किया नहीं। यह बिम्ब तो रजनी की मादकता की अपेक्षा उसकी प्रम विष्णु विराटता को ध्वनित करता है। जयशंकर प्रसाद ने कामायनी म रजनी का चित्रण किया है। किन्तु वह चित्रण मादक है, यथा—

पगली हाँ सम्हाल ले कैसे
छूट पड़ा तेरा अंचल
देख बिखरती है मणिराजी
अरी उठा बेसुध चंचल।
फटा हुआ था नील वसन क्या
ओ यौवन की मतवाली !
देख अकिंचन जगत लूटता
तेरी छवि भोली भाली।

प्रसाद की मधुमादकता के बीच दिनकर की प्रांशु विराटता प्रशंसनीय है। लगता है जैसे कोई सम्राज्ञी वैभव के चाकचिक्य में आभिजात्य की गरिमा के साथ जा रही हो। रात्रि के वैभव के इस मूर्त्त चित्र की पूरी प्रशंसा नहीं की जा सकती। एक ही स्थल पर बार-बार इन्द्रियों की परितृप्ति का विधान है। 'कभी जाते इसको देखा है' में नेत्र का और घुमा है वह प्रस्फुट मर-मर कौशेय वसन का' में श्रुति 'गुंथे हुए चिकुर म गुम्फित दाम श्वेत फूलों क ?' में घ्राण और सम्मिलित-कुसुम क मन्द-मन्द वर्षण से' में सरगम सम्बन्धी ऐन्द्रिक तोष मिलता है। समग्र रूप में चित्त पर जो बिम्ब का प्रभाव पड़ता है, वह विराटता जन्य है। किन्तु, डा० भगवतशरण उपाध्याय क लिए यह सब व्यर्थ है क्योंकि दिल्ली में निवास करने वाला हमारा यह कवि 'प्रवासी है।

इसी प्रसंग में कालविरुद्ध-दोष भी विचारणीय है। कोई रचनाकार जब किसी पुरातन संदर्भ को उठाता है तो सत्य यह नहीं होता है कि वह पुरातन संस्कृति का निर्माण करे। यदि वह ऐसा करता है तो काल की चेतना का वाहक नहीं बन सकता। वह प्रतिगामी होकर रह जाएगा। प्राचीन आख्यान इसलिए उठाए जाते हैं कि उनका सम्बन्ध हमारे संस्कारों से रहता है। परिणामतः साधारणीकरण में बड़ी सुविधा हो जाती है। यह भी एक कारण है जिससे प्राचीन आख्यान में कोई बड़ा परिवर्तन कवि नहीं कर सकता। यदि वह कर देता है तो हमारे संस्कार उसे स्वीकार नहीं करेंगे। 'मेघनाद-वध' में माइकेल मधुसूदन दत्त ने परिवर्तन किया और वही उसकी असमर्थना का कारण बन गया। अतः प्राचीन आख्यान नये संदर्भ को अभिव्यंजित करने के लिए ही लाए जाते हैं। कंकाल पुराना रहता है किन्तु चेतना एकदम नई। इसलिए रचनात्मक साहित्य में कालविरुद्ध-दोष ढूँढने के लिए प्राचीन इतिहास और संस्कृति के निर्जीव तथ्यों को लेकर प्रस्तुत होना काव्यालोचन की सीमा का अतिक्रमण कर जाना है। हाँ यह तो ठीक है कि ऐसे तथ्य नहीं आवें जो पुरातन संदर्भ में एकदम बेमेल दीखते हों, किन्तु तथ्यों को छोड़कर शब्दों के जन्म का इतिहास ढूँढना और बात है। यदि कोई शब्द ऋग्वेद में नहीं है तो उसका प्रयोग आज का कवि उस युग के कथानक के संदर्भ में न करे, यह बात समझ में नहीं आती है। इस प्रसंग में 'यवन' शब्द के आविर्भाव का विवेचन करते हुए 'अज्ञेय' जी ने जनवरी १९५८ की 'कल्पना' में जो लिखा है वह एक नया संकेत देता है। वह नया संकेत यह है कि हम किसी शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में जो कुछ जानते हैं वही अन्तिम प्रमाण कैसे हो सकता है। कालिदास ने यदि 'कंचुकी' शब्द का प्रयोग किया तो वह क्षम्य है, किन्तु 'संस्कृत के आचार्य' दिनकर यदि उसका प्रयोग करते हैं, तो यह क्षम्य नहीं है। यह बात काव्यालोचन के किस सिद्धान्त से नया या पुराना निःसृत होती है हमें नहीं मालूम। इसके मूल में क्या यह तथ्य नहीं है कि दिनकर ने 'संस्कृति के चार अध्याय' लिखकर जो अपराध उपाध्याय जी की दृष्टि में किया वही 'उर्वशी' के काव्यालोचन का निकष बन गया। इसी प्रकार 'मणिकुट्टिम' के प्रयोग की भर्त्सना करने में यह मनोवृत्ति उभर कर आती है कि लोग उपाध्याय जी के विस्तृत ज्ञान से वाकिफ हों। किन्तु, कालविरुद्ध-दोष के सम्बन्ध में सबसे अधिक हास्यास्पद स्थल तब उपस्थित होता है जब उपाध्याय जी 'कला चेतना का मधुमय उत्पन्न भाग' का उल्लेख कर कला विकास के इतिहास का विश्लेषण करने लग जाते हैं।

सम्पूर्ण 'उर्वशी' पढ़कर उन्हें यह अभिज्ञान न हो सका कि 'उर्वशी' वस्तुतः मानव-काम की कोई नारी नहीं बल्कि चिरंतन नारीत्व का प्रतीक है। 'उर्वशी' एक रूपक-काव्य (Allegory) भी है, क्या यह इतनी सूक्ष्म बात है कि उसे समझाया जाय। किन्तु संस्कृति के आचार्य दिनकर के ज्ञान पर व्यंग्य में मुस्कुराने वाले डा० उपाध्याय जरा अपने ज्ञान पर गौर फरमायें। ऋग्वेद की ऋचाओं का निर्माणकाल ईसा के लगभग बारह हजार वर्ष पूर्व तक माना जाता है। श्री भगवतशरण उपाध्याय ने यह निष्कर्ष निकाल लिया कि इन कलाओं का अस्तित्व ही नहीं रहा होगा क्योंकि भारतवर्ष में उस युग की कलाओं के अवशेष नहीं हैं। यह तो दुर्भाग्य की बात है कि तत्काल कला-कृतियाँ आज किसी भी रूप में उपलब्ध नहीं हैं। परन्तु हम समग्र संसार के इतिहास पर ध्यान रखें तो इसमें शंका की कोई गुंजाइश नहीं रह जाती कि ईसा के बारह हजार वर्ष पूर्व भी कलाओं का अस्तित्व था। केवल अस्तित्व ही नहीं था बल्कि अत्यन्त ही परिष्कृत और समग्र रूप में आज भी वे कलाएँ मिल जाती हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक के समभग पुरातत्ववेत्ता सतावोला ने अल्टामीरा की गुफाओं में जिस चित्रकारी को ढूँढ निकाला वे अपनी स्वच्छता में अद्भुत हैं। आज यूरोप के पुरातत्ववेत्ता इस बात से सहमत हैं कि अल्टामीरा गुफाओं की चित्रकारी ईसा से बारह हजार वर्ष पूर्व की है। बाद में तो पुरातत्ववेत्ताओं ने समग्र दक्षिणी यूरोप को खोद दिया और ऐसी कला-कृतियों के अनेक उदाहरण ढूँढ निकाले। अच्छा हो कि डा० उपाध्याय सर विलियम ओर्पेन द्वारा सम्पादित पुस्तक 'दि आउट लाइन ऑफ आर्ट' के प्रथम परिच्छेद को पढ़ें उसमें दिये गये चित्रों पर मनन करें और अपने ज्ञान को ताजा बना लें। पुनः 'चरम' शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में नहीं है, यह कहकर आलोचक ने अत्यन्त ही सीमित और संकीर्ण दृष्टिकोण का परिचय दिया है। क्या ऋग्वेद आज जिस रूप में उपलब्ध है, वही उसका समग्र रूप है? क्या उसकी सभी ऋचाएँ प्राप्त हैं? अथवा उस युग के सभी विश्वास उपलब्ध ऋचाओं से ही समझे जायँगे? और यदि या वस्तु ऋग्वेद में नहीं है वह उस युग में नहीं ही थी? यह सब कौन बतला सकता है? कालविरुद्ध-दोषों में यह तो व्यक्त होता है कि उपाध्याय जी को इतिहास और संस्कृति का कुछ ज्ञान है किन्तु काव्यालोचन के प्राथमिक सिद्धान्तों से भी वे परिचित हैं यह हम नहीं कह सकते।

तीसरा प्रश्न काव्य में सत्य के स्वरूप को लेकर उठता है। उपाध्याय जी ने पुरूरवा की उर्वशी के 'तारों भरे गगन' के सम्बन्ध में लिखा है चन्द्रमा द्वारा दीपित पुरूरवा की उर्वशी का आकाश क्या तारा भरा हो सकता है कि उपाध्याय जी ठीक कहते हों किन्तु, क्या यह इतना महत्त्वपूर्ण तथ्य है जिसका उल्लेख काव्यालोचन के प्रसंग में किया जाना चाहिए ? 'नाव चीर पर चाँदी के बूटे' कितने दूर-दूर पर काढ़े गए हैं प्रश्न यह महत्त्वपूर्ण नहीं है। महत्त्वपूर्ण यह है कि काव्य-सत्य का स्वरूप क्या है ? कीट्स की 'द ईव आफ सेंट एग्नेस' नाम की कविता में एक नायिका का वर्णन आया है जिसमें वह एक कमरे में बैठी है चाँदनी रात है और खिड़की के काँच से छन-छन कर आने वाली रोशनी कई रंगों के काँच रहने के कारण शरीर पर कई रंग की हो जाती है और उसमें वह नायिका खिल उठी है। एक आलोचक ने अपनी बुद्धि की प्रखरता का परिचय देते हुए यह बतलाया कि चन्द्रमा की किरण में ऐसा नहीं होता है। ऐसा तो सूर्य की किरण में ही होता है। बात ठीक है किन्तु, उसका उल्लेख असंगत बेवजह समझकर इसी आलोचक को उत्तर देते हुए कीट्स ने कहा कि सुन्दर ही सत्य है और सत्य ही सुन्दर है तुम्हें इतना ही जानने की जरूरत है।

चौथा प्रश्न काव्य में उपमान-योजना के औचित्य को लेकर उठता है। उपाध्याय जी ने इस प्रसंग में जो बातें उठायी हैं वे सबसे अधिक भयंकर हैं और हमें बार-बार पढ़कर भी यह विश्वास नहीं होता है कि यह किसी आचार्य के द्वारा कहा गया है। काव्यशास्त्र के अलंकार प्रकरण का यह एकदम मूल ही सिद्धान्त है कि उपमाएँ एकदेशीय होती हैं। किसी को गधा कहा जाता है तो संकेत केवल उसकी मूर्खता से रहता है। यदि कोई यह समझे कि वह धोबी का स्वामिभक्त वाहन है और उस पर कपड़ा लादा जा सकता है, तो उसे हम समझ भी कैसे सकेंगे ? उपाध्याय जी को कुच का स्तन कहने पर भारी आपत्ति है। वे लिखते हैं 'कुच स्तन होकर फिर कुच नहीं रह जाएगा वक्ष पर नहीं सब उसे सिर पर धारण करना पड़ेगा जिसमें रस भंग होगा। लड़कों को ध्यान दें कोई छोरा भी पढ़े द्वारा पवन स्तना जो उरमा से बीज उठती। फिर कमल कर मिट्टी का हो चाहे 'कनक' का है वह पता ही। 'कनक' का होने से तो उस परम हाथ से मले जाने की कठिनाई बढ़ ही जाएगी क्योंकि गरम हाथों को आवश्यकता

धातु-कलश की नहीं ऐसे पदार्थ के कलश की है जिसके स्पर्श से उत्तप्त कर ठंडे हों। प्रेम साहित्य में काम की परम्परा में, गर्मी में भी भारी शीतल उन्मुक्त नर को उत्तप्त कर को ठंडा करती है। जिस पाठक को अलंकार शास्त्र का सतही ज्ञान होगा वह भी ऐसी बात नहीं लिखेगा। यदि ऐसे तर्क का आश्रय लिया जाए, तब तो जो चन्द्रमुखी कहलाती है उसके घर में बिजली जलाने की आवश्यकता ही नहीं पड़े। फिर चन्द्रमा का इतना बड़ा मुंह किस घर में अटेगा? चमत्कारवादी बिहारी ने इसी तर्काभास का सहारा लेकर 'पत्रा ही तिथि पाइये वा घर के चहुँ पास' लिखकर अपनी सहृदयता के अभाव का परिचय दिया था। वस्तुतः उपमान एकदेशीय होते हैं। कलश मंगल के प्रतीक हैं। मंगल कलशों को हाथ पर रखने की प्रथा है। उसका 'कनक' विशेषण कांति को संकेतित करता है। पुनः कलश शैत्य प्रदान करता है। इसलिए उत्तप्त कर अवश्य ही उसके स्पर्श से शीतल होंगे। मम्मट ने लक्षणा-विवेचन प्रसंग में 'गंगायां घोषः' का उदाहरण दिया है। यदि उपाध्याय जी तर्क का आश्रय लिया जाए तब तो गंगा की धारा में भला घोष की क्या हिमाकत होगी ठहरने की। उसी प्रकार उपाध्याय जी सांप के रेंगने वाली बात नहीं समझ पाते हैं। सांप कामविषय प्रतीक है। वह काम क्षुधा का प्रतीक है। 'लोल' विशेषण को जोड़कर दिनकर ने इस बिम्ब को और प्रभावशाली बना दिया है। 'लोला' कामना का प्रतीक है। इसमें दम्भ से फुंफकार मारने वाली वासना की प्रमुखता व्यक्त हुई है। इस बिम्ब का प्रयोग दिनकर ने पहली बार 'नील-कुसुम' में संगृहीत 'स्वप्न और सत्य' शीर्षक कविता में किया है। 'उर्वशी' में यह बिम्ब वहीं से आया है। सच तो यह है कि इस बिम्ब ने हमारी भाषा की अभिव्यंजना शक्ति को बढ़ाया है। 'कलश' मीमांसा की ही तरह 'त्वचा की नींद टूटना' की आलोचना भी बौद्धिक-परिक्षीणता और सहृदयता के अभाव की सूचना देती है। स्पर्श सुख से त्वचा के रोम रोम कंटकित हो जाते हैं। उनमें एक विद्युत का संचार होता है। इसका आधार वैदिक है। दिनकर ने इसी भाव से इस वाक्य-खंड का प्रयोग किया है। उपाध्याय जी जब 'कुसुम-कुंज' के प्रसंग में संपुष्टित कोई कक्ष-विशेष की कल्पना करते हैं तो हंसी आती है। कुसुम कोमलता का प्रतीक होता है। उससे एक सुरभि फूटती रहती है। इसीलिए दिनकर ने उसे 'सुरभित विश्राम भवन' कहा है। जब देह कुसुमों के पुंज की ही तरह आकर्षक और मादक होता है। अपाय का औचित्य यही है। कुसुमों को छोड़कर कुंजों को प्रमुखता प्रदान करने का यह परिणाम है।

दिनकर ने मुक्ता में चट्टान की उपमा दी है तो भरसक उसकी 'चौड़ाई' में नहीं दिया गया है। उपाध्याय जी यह चौड़ाई वाली बात कहाँ से लाए हैं, समझ में नहीं आती। चट्टान तो मन में कठोरता का भाव करती आयी है। यही उसका धर्म है। इस अर्थ में उसका प्रयोग रूढ़ हो गया है। सुकाएँ पुरूरवा को कभी ही कठोर थीं उसका कथन युक्त रहीं होगी दिनकर कहना यही चाहते हैं। समग्र भारतीय साहित्य में 'चट्टान' का उपयोग इसी कठोर मन का भाव करने के लिए हुआ है। हमारी राय में यह आलोचना किसी रूप में प्रविष्ट होकर वापस नहीं निकल सकी है। इसके लेखक को वस्तुतः काव्य शास्त्र की सतही बातों का भी ज्ञान नहीं है और वह आक्रमण करता है काव्य की अभिव्यंजना पर।

आखिर प्रश्न आलोचक की सहृदयता और संवेदनशीलता का उभर उठता है। क्या आलोचक केवल शास्त्रज्ञ विद्वान ही होता है अथवा उसे सहृदय भी होना चाहिए? उपाध्याय जी की समीक्षा पढ़कर जो बात सामने आती है वह यह कि इसका लेखक शास्त्रज्ञ विद्वान् तो नहीं ही है साथ ही उसमें साधारण पाठक की संवेदनशीलता भी नहीं है। वे लिखते हैं 'सहृदयता से भरे आदमी को 'माँ का वक्ष' याद आता हो, संकट में तुलसी का [illegible] याद आता है, यह कल्पना कवि की अपनी हो सकती, लेकिन सामान्य नर की कतई नहीं है।' तुलसी का [illegible] वस्तुतः सहज में घुस गया करता है। अच्छा होता कि उपाध्याय जी ये पंक्तियाँ न लिखते। लिखते भी तो 'उर्वशी' रूप में जानते, क्योंकि इससे उपाध्याय जी का जो रूप उभरता है वह अत्यन्त ही संवेदन शून्य व्यक्ति का रूप है। 'अन्धकार' एक न आधुनिक प्रयोग है। आलम्ब है उर्वशी का स्मृति में। रोमान्टिक कवि नारी की प्रेरणा का स्पष्ट समर्थक है वह पुरुष में स्फूर्ति का संचार करता है। उस स्मरण पर पुरुष पराजय को ग्लानि से बचता जाता है। सच तो यह है कि प्रेमचन्द जैसे यथार्थवादी उपन्यासकार भी नारी को इस दृष्टि से देखते थे। उनके गोदान जैसे यथार्थवादी उपन्यास में भी नारी सम्बन्धी यही दृष्टिकोण उभरता है। मिर्जा और प्रो० मेहता की कबड्डी सहसा हारते-हारते जीत गए। इस जीत की व्याख्या करते हैं 'मुझे आज एक नया अनुभव हुआ। महिला की सहानुभूति हार को जीत बना सकती है।' वस्तुतः हारते हुए मेहता ने मालती की सहानुभूति अपना आधार लेकर ग्लानि से बचने के लिए पराजय को विजय में परिवर्तित

कर दिया। निराला की 'राम की शक्ति पूजा' में यह दृष्टिकोण और रूप में उपस्थित होता है। दृष्टि ग्रस्त हो गया था और ज्योति के सिवे राम और रावण के अपराजेय समर में आज राम के पराक्रम को लगा था। आज उनके सभी तीक्ष्ण प्रहार निष्फल हो रहे थे। सं समय युद्ध विराम हुआ और राम समुद्र के किनारे किसी सानु पर सेनाध्यक्षों के साथ विचार विमर्श के लिए बैठते हैं किन्तु सघन स राम का मन विकल हो उठता है —

> स्थिर राघवेन्द्र को हिला रहा फिर-फिर संशय
> रह रह उठता जगजीवन में रावण जय भय

इसी संकट के क्षण में राम को भावी पराजय की ग्लानि की कु सीता की कुमारिका छवि का स्मरण होता है। फिर निराला प्रत्यक्ष प्रणामी से पुष्पवाटिका मिलन का चित्र खींच देते हैं प्रथम न लतान्तराल मिलन नयनों का नयनों से प्रिय गोपन सम्भाषण काँपते किसलय झरते पराग समुदय स्वर्गीय ज्योति प्रपात प्राप्ति और इस भाते ही 'हुए धनुर्भंग को पुनर्वार ज्यों उठा हस्त'। नारी प्रेरणा का होती है, व्यक्ति नहीं होता है। सभी नृपालों में केवल राम ही धनु समर्थ हो सके थे इसका कारण यह है कि सीता के कौमार्य को पुष्पव में केवल उन्होंने देखा था। इसलिए उनके हृदय में स्फूर्ति की प्राप्त की प्रखर कामना थी। इसलिए उनमें विश्व विजय की भावना भाती संकट में युवती का सम्यावक्ष' याद आता है, इसकी सार्थकता यही है। प्रकार उपाध्याय जी 'माँ का वक्ष' का मर्म भी नहीं समझ सके। तात्प माँ ही है। 'माँ का वक्ष' पुरुष के लिए ममता और शक्ति दोनों प्राप्त का साधन होता है। इसका भी श्रेष्ठ दृष्टान्त 'राम की शक्तिपूजा' में उपस्थित हुआ है। शक्ति-आराधना में लीन राम जब अन्तिम इन्दीवर ढूँढ़ने पर नहीं पाते हैं, तब असफलता को सामने देख विक्षुब्ध हो उठते किन्तु इसी समय राम को माँ की याद आती है वह माँ जो प्रदीप्त का आश्रय खोज देती है— कहती थीं माता मुझे सदा राजीव नयन। हम निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उपाध्याय जी साधारण पाठक की सहृदयता न्य है।

कि उर्वशी की भाषा किस कोटि की है वरन् यह कि उपाध्याय जी ने काव्यालोचन के प्रसंग में भाषा सम्बन्धी जिन त्रुटियों का उल्लेख किया है वे क्या विचारणीय भी हैं ? इस प्रसंग में उनका पहला आक्षेप मुहावरे के किंचित् विकृत रूप को लेकर है। 'प्रीति जब प्रथम प्रथम जगती है।' 'प्रथम प्रथम' के प्रयोग पर उपाध्याय जी को आपत्ति है। उनके अनुसार 'पहले पहल' होना चाहिए। क्या उपाध्याय जी यह नहीं जानते कि कविता की भाषा गद्य की भाषा नहीं होती है। कविता की भाषा का गद्य की भाषा की ही तरह बाजार और व्यापार में भी उतरना चाहिए, यह बात दूसरी है। किन्तु, व्यवहार के धरातल पर उसकी अनेक सीमाएँ रहती हैं। केवल छन्दगत मात्रा का ही प्रश्न नहीं रहता है, गति-यति की धारणा को भी समझना पड़ता है। उपाध्याय जी का सुझाव है कि 'पहले' रख देने से कोई बड़ी क्षति नहीं होगी मात्रा वैषम्य की चिन्ता उन्होंने नहीं की क्योंकि उर्वशी में अन्यत्र यह त्रुटि कहीं है। पहले सुझाव के अनुसार पंक्ति पढ़ी जाय—'प्रीति जब पहले-पहल जगती है।' उपाध्याय जी क्या अब इस पंक्ति को तुकबन्दी भी मान सकते हैं ? उसी प्रकार 'सूख मुख' वाला सुझाव भी अकाव्यात्मक भोंड़ा। दूसरा आक्षेप तत्सम के प्रयोग को लेकर है। दिनकर स्वयं भी 'अक्षुण्ण भाषा' के हिमायती नहीं हैं। यह ठीक है कि 'उर्वशी' में कई शब्दों का प्रयोग कर्ण-कटु लगता है। किन्तु उसकी भयंकरता उपाध्याय जी ने एक ही जगह एकत्र कर बढ़ा दी है। हम एक बात और नहीं समझ पाते हैं। उपाध्याय जी कई जगह यह आक्षेप करते हैं कि 'चरम' जैसे शब्द ऋग्वेद में नहीं हैं, अतः उनका प्रयोग वाञ्छनीय नहीं तो फिर ऐसे अद्भुत प्रयोगों की वकालत क्यों करते हैं जो ऋग्वेद में तो नहीं ही हो सकते हैं। उपाध्याय जी दुरंगी बात क्यों कहते हैं ? उर्वशी की भाषा अच्छी है या बुरी यह प्रश्न दूसरा है। एक ही व्यक्ति का दो मानदण्डों का उपयोग एक ही भावभावना में करना क्या अधिकार है ? तीसरा आक्षेप ग्राम्य प्रयोगों से संबंधित है। इस प्रसंग में उपाध्याय जी ने 'महारानी' 'देह करेंगी ढीली' 'प्रम देवता' आदि शब्द का उल्लेख किया है। 'महारानी' ग्राम्य प्रयोग है यह कथन भारतीय काव्य शास्त्र का उपाध्याय जी का नूतन अवदान है। 'ढीली' शब्द बड़ा ही व्यंजक है। यौवन के उतार के साथ-साथ शरीर की कसावट शिथिल पड़ने लगती है। इस बात को यह शब्द बहुत ही अच्छी तरह ध्वनित कर देता है, 'ढीलापन' शिथिलता द्योतित करता है। प्रसाद ने मन के ढीलेपन की चर्चा 'कामायनी' में की है—पर.

मन भी कर्म इतना ढीला अपने ही होता जाता है। चौथा आक्षेप किसी अन्य भाषा अथवा अन्य कवियों के वाक्य खंडों के अनुवाद से सम्बद्ध है। इस प्रसंग में उपाध्याय जी ने मेरठ जनपद के प्रयोग का प्रभाव मानते हुए 'हम भरती हैं' 'हम फिरती हैं (पृ० ६), हम बरसाती फिरती (पृ० १०) आदि को उद्धृत कर खिलकर और व्याज से बिहार पर तीखा व्यंग्य किया है। उपाध्याय जी हिन्दी भाषा की प्रकृति से वाकिफ नहीं हैं। मध्य-देश की वह भाषा जिसने संस्कृत के स्थान पर मध्यदेशीय संस्कृति के वहन करने का दायित्व उठाया हिन्दी कहलाती है। इसलिए भोजपुरी क्षेत्र के कबीर मैथिली क्षेत्र के विद्यापति अवधी क्षेत्र के तुलसी और ब्रजभाषा क्षेत्र के सूरदास में भोजपुरी, मैथिली अवधी और ब्रजभाषा भी उतनी ही है जितनी कि आज की खड़ी बोली में खड़ी बोली। जिस कवि ने समग्र मध्य देश को ध्यान में रखकर लिखा वह हिन्दी का कवि हो सका और जो अपने जनपद की सीमा का अतिक्रमण न कर सका वह बोली का कवि मात्र होकर रह गया। इसलिए सूर की भाषा में पंजाबी और भोजपुरी के भी प्रयोग मिलते हैं। जो लोग कविता में केवल मेरठ की खड़ी बोली को ही प्रमाण मानने को कटिबद्ध हैं उन्हें हिन्दी भाषा की प्रकृति का सूक्ष्म ज्ञान नहीं है। पाँचवा आक्षेप किसी प्रसिद्ध कवि अथवा अन्य भाषा के वाक्य खंडों के अनुवाद से संबंधित है। उपाध्याय जी ने बड़ी कठिनाई से दो चार उदाहरण ढूँढ निकाले हैं। जैसे—'चाँदी रजत सोन कंचन' 'हास न र धनुहा सुरों से हमें दनुज चाहो मे' कवि प्रभी एक ही तत्त्व है आदि। हम इस सम्बन्ध में यही कहना है कि तब तुलसीदास को उपाध्याय जी क्या कहेंगे। जो लोग काव्य में उभरने वाली समग्र-जीवन-दृष्टि को उपेक्षित कर कुछ वाक्य-खंडों के अनुसंधान में ही रस लेते हैं, उनकी प्रतिभा की प्रशंसा तो करना ही। काव्यगत मौलिकता की इतनी सतही चर्चा हिन्दी आलोचना में और कहीं देखने को न मिली। श्री भगवत शरण उपाध्याय के उस निबन्ध को पढ़कर मेरे ही मुख्य प्रश्न उभरते हैं। हिन्दी काव्यालोचन के क्षेत्र में अजीब संकीर्णता आ गई है। आज हिन्दी का कवि काव्येतर मूल्यों से मापा जाता है। इसीलिए 'कल्पना' के एक पत्र लेखक का मत पर म उत्तर छह चीनी आक्रमणों से नहीं बल्कि 'परशुराम की प्रतीक्षा' से भारतीय प्रजातन्त्र का भविष्य खतरे में दिखलाई पड़ा। यह एक अद्भुत बात है कि जहाँ श्री नेमिचन्द्र जैन 'उर्वशी' को आधुनिक प्रवृत्ति का काव्य नहीं मानते हैं। वहीं श्री भारत-भूषण अग्रवाल उर्वशी को अत्याधुनिक प्रवृत्ति का काव्य मानते

है। इस प्रसंग में हम इतना ही कहेंगे कि पुरूरवा की जिस क्रिया का चित्रण
मिलकर न किया है वह कोई आधुनिक युग का कवि ही कर सकता है।
हिन्दी काव्यालोचन को यदि जीवित रखना है तो उसे काव्येतर सीमाओं
म अतिक्रमण करना होगा। काव्यालोचन के सभी नियम पोथी अथवा
ास्त्र से नहीं प्राप्त किए जा सकते हैं। प्रशंसा डा० रामविलास शर्मा की
ानी चाहिए जो काव्येतर झाड़ झंखाड़ों में उलझ कर नहीं रह गए।

उपलब्धि और सीमा

कई दृष्टियों से 'उर्वशी' का महत्व खड़ी बोली काव्य के इतिहास में अप्रतिम है। इसके द्वारा खड़ी बोली की सामर्थ्य के नये आयामों का उद्घाटन हुआ है। भाषा की दीप्ति में निहित जो माधुर्य होता है उसका उत्कर्ष 'उर्वशी' में है। वर्तमान काव्य जो कई युगों में आत्म-प्रवास कर रहा था उस गेय की परिणति 'उर्वशी' में हुई है तथापि 'उर्वशी' वह काव्य नहीं है जिसकी प्रतीक्षा हिन्दी का पाठक 'कामायनी' के प्रकाशन के बाद कर रहा था।

महाकाव्यत्व

'उर्वशी' महाकाव्य नहीं है। स्वयं दिनकर ने लिखा है[1] महाकाव्य तभी लिखा जाता है जब युग की अनेक विचार धाराएँ वेग से बहती हुई किसी महासमुद्र में मिलना चाहती हैं। जब ऐसी अनेक धाराएँ वेगवन्त प्रवाह में होती हैं तभी महाकाव्य की रचना का समय आता है और जो कवि उनके महामिलन के लिए सागर का निर्माण कर सकता है, वही महाकाव्य लिखने का अधिकारी होता है। महाकाव्य की रचना मनुष्य को विकल करने वाली अनेक भावधाराओं के बीच सामंजस्य लाने का प्रयास है। महाकाव्य की रचना समय के परस्पर विरोधी प्रश्नों के समाधान की चेष्टा है। जब परम्परा से आनेवाले महान प्रश्नों और भावों की अनुभूति में परिवर्तन होता है तब मनुष्य का संस्कार भी परिवर्तित होने लगता है तथा इस परिवर्तित संस्कार को चित्रित करने के लिए ही महाकाव्य लिखे जाते हैं। संक्षेप में, महाकाव्य नये युग की समग्र चेतना उसके ताप उसकी व्यथा एवं उसकी आशा का दर्पण होता है जो मनुष्य को जनव्यापी प्रश्नों का समाधान भावना के धरातल पर उपस्थित करता है।

---

1 अर्धनारीश्वर ४६

उर्वशी में ऐसा कुछ नहीं है। समग्रता में जीवन की व्याख्या की तो बात ही दूर है अनेक विचार धाराओं के अबाध प्रवाह की कोई झाँकी भी नहीं है। महाकवि युग के ताप को चीरकर निकलता है, संघर्षों से जूझता है उसके काव्य में इस समय की विकलता रहती है। 'उर्वशी' के कथानक में इस व्यापक कैनवास (Canvas) का प्रश्न ही नहीं उठता है। हाथी दाँत पर एक छोटी-सी खूबसूरत तस्वीर अवश्य बनाई जा सकती है पर निश्चय ही उसमें अजन्ता और एलोरा की गुफाओं की विराटता और विविधता नहीं आ सकती है। ऐसे काव्यों को कभी भी महाकाव्य नहीं कहा जाता। कालिदास का 'मेघदूत' अत्यन्त ही श्रेष्ठ काव्य है, परन्तु कैनवास की लघुता के कारण उसे किसी ने महाकाव्य नहीं कहा है। 'उर्वशी' में कहीं-कहीं अवश्य ही श्रेष्ठ काव्य की गरिमा है, किन्तु महाकाव्य की उदात्तता व्यापकता गाम्भीर्य और स्थापत्य का निर्वाह नहीं हो पाया है। द्विधाग्रस्त मनुष्य की आकुलता का अच्छा चित्रण है, किन्तु द्विधा की कुहा को चीरकर समाधान की सुनी धूप कहीं नहीं है।

पुरुरवा अत्याधुनिक भावबोध की उपज

यह द्विधाग्रस्त मनुष्य पुरुरवा है। यह पुरुरवा दिनकर की अत्याधुनिक परिकल्पना (Ultra Modern Consciousness) का विलक्षण उदाहरण है। विज्ञान ने जहाँ मनुष्य की पुरानी मान्यताओं का ध्वंस किया वहीं नई मान्यताएँ सुस्थिर नहीं बन सकी हैं। विज्ञान का रथ जब आया तब उसने पहला धक्का धर्म के चबूतरे को दिया। मनुष्य के हाथ में बेशुमार शक्ति केन्द्रित हो गई और उसकी ईश्वर उपासना में उतनी उत्कटता नहीं रह गई। यानी मनुष्य की आस्तिकता कुछ ढीली पड़ी। फिर, प्रकृति पर मनुष्य ने विजय प्राप्त की और प्राकृतिक जीवन से वह विमुख होने लगा। नतीजा यह हुआ है कि आज के मनुष्य का जीवन-यापन न तो निसर्ग-सिद्ध है और न उसकी आस्तिकता पूर्ण 'उत्कट'। आज का मनुष्य स्वयं एक प्रश्न चिह्न है। वह विचित्र द्वन्द्व में उलझ गया है। पाप वह अब भी करता है, उसकी पशुता अब भी मरी है। तब सहज ही उसके स्वत्व में इसे आशंका होने लगती है। फिर भी पाप के पंक में धँसकर भी अकरणीय आचरणों के ठेहुन भर जल में डूब कर भी उसकी मनुष्यता मरी नहीं है। अब भी वह चाहता है कि पगध का गुण बाँधकर मिट्टी को आकाश से ब्याह दे। विज्ञान ने, आज के नव चिन्तन में उसकी समस्या को और भी उलझा दिया है।

यही पुरुरवा है। उसका संघर्ष 'एकेडमिक' है। उसका प्रेम वासनिक है। यह प्रेम किसी साहसिकता को जन्म नहीं देता है। मान के द्वारा कमरूपों के कर्मक्षेत्र का जो विस्तार होता है, 'उर्वशी' में उसकी कोई झाँकी भी नहीं है। पुरुरवा से व्यक्त विरह की उद्दाम विकलता का कोई औचित्य नहीं है। कवि आवेग की इस उद्दामता का व्यापार के धरातल पर कोई सामंजस्य नहीं उपस्थित कर सका है। 'उर्वशी' को स्वयं इस बात की शिकायत है कि उसका मिलन 'संयम की मर्यादा' फाँदकर ही सम्भव हो सका है। पुरुरवा केवल इस भरोसे बैठा रहा कि उसके 'मन का दाह' जलद पुंज को भेद उर्वशी के मन को व्यक्त कर देगा और वह मूर्तस पर स्वयं चली आयेगी। पुरुरवा का यह तर्क कि उसने न तो कभी दूसरे के स्वाधीन मुकुट पर हाथ बढ़ाया और न कभी दूसरे की वसुधा हरने का संघर्ष किया उसके चारित्रिक उत्कर्ष को अवश्य द्योतित करता है परन्तु इससे उसके उद्दाम प्रेम का औचित्य नहीं सिद्ध हो जाता है।

ऊपर से देखने पर तो ये सारी बातें दिनकर के पक्ष में नहीं पड़ती हैं और लगता है कि कवि ने एक बेजान पात्र की सृष्टि की है। पर थोड़ी भी गहराई में जाते ही दिनकर के विराट 'विजन' (Vision) से हमारा परिचय होने लगता है। कालिदास की तरह दिनकर का पुरुरवा यथार्थ कर्म के धरातल पर नहीं उतरता है। दिनकर केवल उसके पराक्रम का गुण कथन करते हैं। किन्तु, इसीलिए ऐसा लगता है कि दिनकर का पुरुरवा आधुनिक मनुष्य की द्विधा का सबसे बड़ा प्रतीक है। आज के मनुष्य का कर्मपक्ष निस्तेज हो गया है। आज का मनुष्य चिंतन में लम्बी-लम्बी बात करता है पर कर्म में वह कदाचित् ही कभी प्रवृत्त होता है। आज के मनुष्य का संघर्ष अधिक दार्शनिक और 'एकेडमिक' ही होता है। गेटे का फाउस्ट इसी कोटि का मनुष्य है। शेक्सपियर का हैमलेट ऐसी ही परिकल्पना है। उर्वशी जब चली जाती है, तब पुरुरवा उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं की झड़ी लगा देता है, लेकिन वास्तविक क्रिया में प्रकट नहीं होता है।

पुरुरवा और मनु

यही स्थिति कामायनीकार के समक्ष भी थी। कामायनी में मनु अपनी परिणीता को छोड़ इड़ा की ओर लपकते हैं। 'उर्वशी' में भी पुरुरवा औशीनरी को छोड़ उर्वशी के प्रति आकृष्ट होता है। किन्तु, मनु की

रति में इतना ज्वार था कि वे अकेले भी राजरथ को बस चला सकते थे।

'रत्नोन्मद मनु का हाथ न अब भी रुकता था।
प्रजापक्ष का भी न किन्तु साहस झुकता था।'[1]

यह मनु एक बर्बर मनुष्य है। इसका जीवन प्रकृति से एकाकार है। किन्तु प्रकृति को यह जीत नहीं सका है। संस्कृति की जो उपलब्धि होती है उससे इसका परिचय नहीं है। अभिलषित श्रद्धा की ओर यह इच्छा भरे नयन से निहारता है और उसकी दृष्टि से आमन्त्रण का राग न पाकर उस पर टूट पड़ता है। शिष्टता उसकी कोई विवशता नहीं है। संयम उसकी प्रकृति नहीं है। ठीक इसके विपरीत पुरुरवा पूर्ण सुसंस्कृत मनुष्य है। मनु न बर्बर समझता है पुरुरवा में संस्कृति की नोकता। पुरुरवा ही ऐसा कह सकता है—'फिर ध्यान हूँ इस इच्छासुता के हित'। प्रसाद और दिनकर की दृष्टि में यही अन्तर है। 'मनु' एकदम अनगढ़ मनुष्य है। पुरुरवा में अनभिजात्य का सुधार है। इसीलिए उसकी रति निराशा और वियोग की चट्टान से टकराकर सन्यास की ओर मुड़ जाती है। हाय रे! आधुनिक मनुष्य का भाग्य! वह कर ही क्या सकता है? आज के मनुष्य का कवि जितना प्रखर है उसका दार्शनिक उतना ही प्रबल। वह खंडित व्यक्तित्व है। कर्म की कठोर भूमि पर कमल पर उतरने में सकुचाते हैं। इसीलिए उसके जीवन की पश्चिम परिस्थिति उनके भावना के अनुकूल नहीं होती है। उसकी कामना की गंगा किसी शिव की जटा में अटक जाती है। ऐसा विजन (Vision) कोई अत्याधुनिक दृष्टि से सम्पन्न कवि ही देख सकता है। पुरुरवा हिन्दी का 'हैमलेट' है। हिन्दी कविता के महाकाव्यिक अर्थों के इतिहास में पुरुरवा विलक्षण निर्माण है। हिन्दी कविता के नायकों की 'गैलरी' से यदि पुरुरवा को निकाल दिया जाय तो वह गैलरी प्रभाहीन हो जायगी।

इस पुरुरवा की वैराग्य एकाएक नहीं हुई है। हुंकार की 'भविष्य की आहट' शीर्षक कविता में दिनकर एक ऐसे ही मनुष्य की प्रतीक्षा कर रहे थे। इस पुरुरवा की पदचाप कुरुक्षेत्र में भी सुनाई पड़ती है। सप्तम सर्ग में 'रागानल के बीच पलन सा मगन नाचता पुरुष'—यही पुरुरवा है दिनकर की

---

१ कामायनी २०१

आकुल चेतना इसी पुरुरवा की खोज में अब तक थी । अंधकार भरी हुई वीथियों से होकर मानवता का कारवाँ पुण्य के शिखर की ओर बढ़ता आया है । हर युग बार-बार इस अंधकार में पछाड़ खाकर गिरता आया है लेकिन मनुष्य की जय-यात्रा बन्द नहीं हुई है । इसी का प्रतिरूप पुरुरवा में है । किन्तु 'उर्वशी' की अन्तिम परिणति कवि की अपनी भावना के अनुकूल नहीं हो सकी । अन्त में नारी 'पूरा बन्ध विक्रम विलास' और 'दैहिक सिद्धियों' की तृप्ति के लिए सदियों से उपेक्षित हेय नारी ही बनकर रह जाती है । सहज ही यह बात मन में उठती है कि उर्वशी मनुष्य की इस परिणति पर एक व्यंग्य (Satire) तो नहीं है ? पुरुरवा सन्यास लेकर चल देता है । इससे निष्कर्ष तो यही निकलता है कि काम मोक्ष का सहज मार्ग नहीं है । मनुष्य को मोक्ष की प्राप्ति के लिए रुधिर और मांस-पुञ्ज की सनसनाहटों से ऊपर उठना ही होगा । पुरुरवा की यह ट्रेजेडी सम्पूर्ण मानवता की ट्रेजडी है । और वह पुरुरवा इस ट्रजडी का प्रतीक है । यह पुरुरवा ऊपर ऊपर से भोग में डूबा हुआ है किन्तु, भीतर से विपण्ण । तन के धरातल पर यह मनुष्य है किंतु, मन के धरातल पर सन्यासी । आधुनिक सभ्यता और संस्कृति की सम्पूर्ण संश्लिष्टता का प्रतिरूप है यह पुरुरवा । उसकी उलझन आधुनिक सभ्यता की उलझन है और उसकी ट्रेजडी इस सभ्यता का विश्लेषण । दिनकर के मन में इसी मनुष्य का चिन्तन' (*Vinon*) रहा होगा जिसको व्यक्त करने के लिए उन्होंने कुरुक्षेत्र में लिखा था— 'न्योछावर इस एक पुरुष पर कोटि-कोटि सन्यासी । नहीं वह पुरुष है । दिनकर की राष्ट्रीय कविताएँ काल जयी नहीं बन सकेंगी सूर और बिहारी की समृद्ध परम्परा में उसकी प्रेम सम्बन्धी कविताएँ शायद अपना आकर्षण खो बैठें किन्तु, इसी पुरुरवा के कारण हिन्दी साहित्य के इतिहास में उनका स्थान अक्षुण्ण रहेगा । यह उनका विलक्षण निर्माण है ।

रति-विकास का क्रम

'उर्वशी' में रति का कोई स्वाभाविक विकास भी नहीं दिखलाई पड़ता है । प्रेम के सम्बन्ध में कवि का दृष्टिकोण रूमानी है । उर्वशी और पुरुरवा का प्रेम किसी लम्बे साहचर्य का परिणाम नहीं है जैसा कि सूर ने राधा और कृष्ण के प्रेम में दिखलाया है । राधा-कृष्ण साथ-साथ आँख-मिचौनी खेलते

थे, माघ में साथ-साथ गाते झूलते आते थे पत्तों भर में आकर एक दूसरे के शरीर बनाते और मिटाते थे। उनका प्रेम आकस्मिक विस्मय नहीं था। किन्तु, रूमानी दृष्टिकोण प्रेम के आगमन को आकस्मिक मानता है। नायिका को नायक ने किसी विपत्ति से बचा क्या लिया, तुरन्त प्रेम हो गया। और तो और, 'उर्वशी' में रति का वैसा भी विकास नहीं दिखलाया गया है जैसा कि प्रसाद ने 'कामायनी' में दिखलाया है। 'कामायनी' में प्रणय धीरे-धीरे मुकुलित हुआ है, परन्तु 'उर्वशी' में वह एक बारगी खिल गया है। लज्जा में पहले झिझक है, छिपा है, संकोच है, भरमा है—

'गिर रहीं पलकें झुकी थी नासिका की नोक।
भ्रू लता थी कान तक चढ़ती रही बेरोक।
स्पर्श करने लगी लज्जा ललित कर्ण-कपोल।
भरा पुलक कदम्ब सा था भरे गद्-गद् बोल।'[1]

किन्तु 'उर्वशी' तो प्रथम दर्शन से ही 'कामना वह्नि की शिखा मुक्त मैं अनवरुद्ध, मैं दुर्निवार बन जाती है। मनोविज्ञान की दृष्टि से यह कुछ *जँचता नहीं है। स्वयं दिनकर ने 'रसवंती' में प्रणय-विकास का एक चित्र* रखा था—

'कुछ विस्मय कुछ पीड़ा हर्षों में
अभिलाषा कुछ मन में।
पर मैं जान पाता मुख अंकित
प्रथम प्रथम परिचय में।'[2]

यह क्रम 'उर्वशी' में कवि नहीं निभा सका।

कामाध्यात्म

'उर्वशी' में जिस अध्यात्म की चर्चा की जाती है वह प्रेम की उच्च भूमि के अतिरिक्त और कुछ है ही *नहीं*। स्वयं कवि ने अपनी कविता के

---

१ कामायनी २४
२ रसवंती ८

'भौतिकोत्तर सौन्दर्य' का संकेत दिया है। काम को अध्यात्म की पीठिका पर प्रस्तुत करने का श्रेय तन्त्रवाद में बहुत पहले हो चुका है। दिनकर ने स्वयं भूमिका में इसका संकेत किया है। शायद महाशून्य सहस्रार आदि तन्त्रवाद के अनेक पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग उर्वशी में इसीलिए हुआ है। 'उर्वशी' का कामाध्यात्म अभिनव मनोविज्ञान के आलोक में ज्योतित हो सका है। यूरोप में जब फ्रायड आये तब धर्म के निवृत्तिवादी रूप के पांव उखड़ने लगे और मनुष्य की दुर्दम जिजीविषा में काम की महिमा को समझा। इसी के उपन्यासकार १९ वीं शताब्दी में सेमवेल बटलर और बारनेयर हुए। काम पर अप्राकृतिक नियन्त्रण ने मनुष्य की जिजीविषा को मार दिया था। परिणामतः एक बन्ध्या सभ्यता और संस्कृति पनप रही थी। किसी युवक का एक युवती की ओर निहारना भी पाप समझा जाता था। इसी के परिणाम में १९ वीं शताब्दी में अप्राकृतिक यौन-सम्बन्धों का प्रचार ज़ोर-शोर से शुरू हुआ। डी० एच० लारेंस की आवाज़ इसलैंगिक की सभ्यता के विरोध में उठाई गई आवाज़ है। लारेंस प्रभृति उपन्यासकारों ने यह बतलाया कि सेक्स का शारीरिक पक्ष गर्हित और हेय नहीं है। सेक्स हमें उष्णता प्रदान करता है। मनुष्य में इससे नयी स्फूर्ति भरती है। लारेन्स ने बतलाया है कि नर और नारी के समागम के क्षणों में मनुष्य का एक तरह से पुनर्जन्म होता है। यही मोक्ष है। देह की जब पपड़ी टूटने लगती है तो आत्मा में भी असीम आलोक भर जाता है। दिनकर भी यह मानते हैं कि प्रेम जगमता है देह से किन्तु, उसके विचरण की सारी लीला-भूमि त्वचा और रुधिर तक ही सीमित नहीं है। प्रेम भावना है किन्तु, यह भावना आत्मा में असीम प्रसार भर देती है। दैहिक स्पर्श का चरम लक्ष्य रूप से अरूप की ओर जाना है। वे लिखते हैं प्रेम करने की क्षमता साधारण क्षमता नहीं है। यह तो हृदय के आध्यात्मिक प्रसार का नाम है यह मनुष्य की उस शक्ति का नाम है, जो विकसित होकर उसे दूसरे मनुष्य के साथ एकाकार कर देती है। हाँ जिसे हम साधारण प्रीति कहते हैं वह भी हमारी त्वचाओं में पंख और चेतना में बिजली लगाकर हमें ऊपर उठा सकती है।[1] दिनकर का कामाध्यात्म यही है। यही प्रेम की अतीन्द्रियता है। कायिक सम्पर्क छू' भी जाता है, तब भी उसके माधुर्य का स्रोत नहीं सूखता है। कुछ सनसनाहट बनी रहती है। दिनकर लिखते हैं अधर मग्न होते मिलती

१ अर्धनारीश्वर, १९०

झंकार नहीं गुञ्जन की।'[1] 'उर्वशी' प्रेम की अतीन्द्रियता का आख्यान है। इसी अर्थ में यह कामाध्यात्म की कविता है। वस्तुतः तन्मयता की स्थिति ही ऐसी होती है जब व्यक्ति 'रक्त के कण में समाकर प्रार्थना के गीत' गाना चाहता है। दिनकर काम की अनिवार्यता पर चाहे जितना बल दें किन्तु वे यह कभी नहीं कहते कि काम मात्र देह की भूख ही है। उन्होंने 'उर्वशी' में इन्द्र धनुष का रंग बाँध कर यह प्रयास किया है कि अश्लीलता और अशालीनता से भरी भूमि में वे अनश्वरता का बीज बो दें। यह प्रयोग कितनी दूर तक सफल हुआ है काव्यालोचन का विषय नहीं है। यदि उनका प्रयास सफल हुआ तो हिन्दी क्षेत्र में वे नयी नैतिकता के नेता मान लिए जाएँगे। यदि प्रयास सफल नहीं हुआ तो यह भी कम नहीं होगा कि नयी पीढ़ी उन्हें चमत्कार समझेगी।

प्रेम का स्वरूप

रीति काव्य मांसलता की उपासना करता था। उस युग का कवि किसी भी युवती सुन्दरी को निचोड़ लेना चाहता था। छायावादी काव्य में आकर वह प्रधानतया मानस-लोक की प्रणयिनी रह गई। कवि के हाथ उसकी देह को छूने में झिझकते थे। यों रीति युग का भी कवि मन तो पिया के भाँवरे भरत' की चर्चा कर लेता था और छायावाद का कवि भी अपनी 'निभृत गुफा' में 'अग्नि-शिखा' चूम लेता था। किन्तु प्रधानता एक में देह की भूख की थी और दूसरे में मन की आसक्ति की। किन्तु 'उर्वशी' में प्रेम का चित्रण छन्द-प्रतिबिम्ब मानवीय है—वह देह की क्षुधा भी है, मन का सन्ताप भी। दिनकर ने ठीक ही पुरूरवा के मुँह से कहलवाया है कि 'इन्द्र ढूँढते जिसे सत्य ही वह जन अभी अयुत है।

द्विधा का सबसे बड़ा चितेरा

और यह बात स्पष्टता से कही जानी चाहिए कि 'उर्वशी' में मनुष्य की द्विधा का बेजोड़ चित्रण हुआ है। द्विधा ग्रस्त मनुष्य—वह मनुष्य जिसमें मिट्टी का ताप भी है, गगन की शीतलता भी—वह जो राग और विराग के बीच उद्विग्न रहता है—का बड़ा ही मार्मिक चित्रण 'उर्वशी' में हुआ है। यथा—

---

१ उर्वशी ७१

दृष्टि का जो पेय है वह रक्त का भोजन नहीं है।
रूप की आराधना का मार्ग आलिंगन नहीं है।[1]

किन्तु मनुष्य के मन का पशु पुनः अपनी सम्पूर्ण बर्बरता के साथ जग उठता है—

रूप की आराधना का मार्ग
आलिंगन नहीं तो और क्या है?
स्नेह का सौन्दर्य को उपहार
रस-चुम्बन नहीं तो और क्या है?[2]

कहीं-कहीं इस द्विधा का चित्रण एक ही पद में हो गया है—

क्षण में भ्रम अभाव, किन्तु हो आलोडन में बैठ
और पुनः वह शान्ति महा जब पत्ते भी हिलते न हों।
कभी दृष्टि युग-युग के परिचय से उत्फुल्ल हुई सी
और कभी वह भाव गोद में पड़ी हुई मैं जैसी
युवती नारी नहीं प्रार्थना की कोई कविता हूँ।'[3]

दिनकर मूलतः द्विधा के कवि हैं। और इस द्विधा के चित्रण में चाहे वह 'कुरुक्षेत्र' हो या 'उर्वशी'—वे आधुनिक साहित्य में सर्वोपरि ठहरते हैं। इसके अभाव में 'कुरुक्षेत्र' या 'उर्वशी' साधारण रचना बनकर रह गई होती। अनुभूति की तीव्रता—यानी कविता का वास्तविक उपादान दिनकर में है—किन्तु काम की उलझन में—अभिव्यक्ति के धरातल तक आते-आते वह उस रूप में नहीं रह पाती है। 'कुरुक्षेत्र' और 'उर्वशी' के स्थापत्य में प्रथम श्रेणी की प्रतिभा का कोई संकेत नहीं मिलता है। परिणामतः दिनकर शिखर तक पहुँच नहीं पाते हैं।

---

१ उर्वशी, ४६
२ वही ४८
३ वही ८४